# जैन भारती

दिसंबर, 2007 • वर्ष 55 • अंक 12 • वार्षिक रु. 200.00

*With best compliments from :*

# GIRIAS

**The Consumer Durable People**

The Undisputed No. 1 in Karnataka for Television and Home Appliances

**BANGALORE 6 world class Showrooms**

| Gandhinagar | Brigade Road | Sadashivnagar | Jayanagar | Domlur Ring Road | Rajajinagar |
|---|---|---|---|---|---|
| Ph : 22264551<br>22204189<br>Fax : 22353708 | Ph : 22228032<br>22270126<br>Fax : 22227879 | Ph : 23619195<br>23619196<br>Fax : 23611448 | Ph : 26566140<br>26566141<br>Fax : 26566143 | Opening By<br>March 2007 | Ph : 23119236<br>23119237<br>Fax : 23119239 |

**KARNATAKA World Class Showrooms**

| Mysore | Hubli | Mangalore |
|---|---|---|
| Ph : 2424330<br>2424331<br>Fax : 2424332 | Ph : 2358601<br>2358602 | Ph : 2445551<br>2442220 |

**TAMILNADU World Class Showrooms**

| Selam | Coimbatore |
|---|---|
| Ph : 2330735<br>2330734<br>Fax : 0427-2330764 | Ph : 2231675<br>Fax : 0422-2233059 |

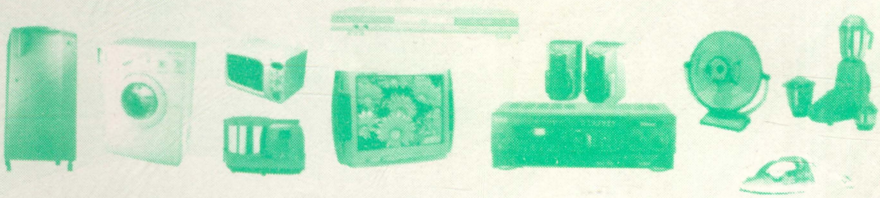

PHILIPS ONIDA Whirlpool TCL Electrolux Kelvinator Haier IFB LG SAMSUNG BPL SONY

Godrej NOKIA Connecting People Sony Ericsson USHA LEXUS FORBES GLEN BRAUN MAHARAJA Kailash ULTRA GRIND MOTOROLA

388292

## KARNATAKA FILATEX

(Mfrs. of H.D.P.E Woven Fabric)

Magadi Chord Road, BANGALORE 560079

**Ph. : 23353714, 22384416**

GIRIAS UTTARANCHAL TEA

## UTTARANCHAL TEA CO. PVT. LTD.

**Pingalkot, Post. Kausani**

**Distt. Bagneshwar, Uttaranchal**

**Ph. : 05962-258330 Fax : 05962-258331**

**शुभू पटवा**
मानद संपादक
•
**बच्छराज दूगड़**
मानद सह-संपादक

# जैन भारती

वर्ष 55 • दिसंबर, 2007 • अंक 12

## विमर्श

11
*आचार्यश्री महाप्रज्ञ*
**अहिंसा की त्रिपदी**

14
*स्वामी विवेकानंद*
**आत्मा, बंध और मोक्ष**

18
*साध्वी कल्पमाला*
**कर्मक्षयार्थ तप्यत इति तपः**

•
*आवरण*
**कमल श्रीमाली**

## अनुभूति

25
*महात्मा गांधी*
**अहिंसा का मार्ग**

31
*साध्वी कनकश्री*
**यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः**

35
*समणी सत्यप्रज्ञा*
**जगता है पौरुष; समर्थन व प्रोत्साहन से**

38
कहानी
*मामोनी रायसम गोस्वामी*
**हिम साम्राज्ञी**

42
कविता
**वंशी माहेश्वरी की कविताएं**

## प्रसंग

7
*शुभू पटवा*
**मनुष्य और सामुदायिकता**

## शीलन

45
*सोहनराज तातेड़*
**जैन दर्शन और जीव विकास**

52
*मुनि अक्षयप्रकाश*
**यदि पथ्यं किमौषधेन**

56
बालकथा
*सुरेखा पाणंदीकर*
**जोजे स्कूल नहीं जाएगा**

**संपादकीय पता :** संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
**प्रकाशकीय कार्यालय :** जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
**प्रधान कार्यालय :** जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
**सदस्यता शुल्क :** वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

## साधु कौन? असाधु कौन?

एक बार किसी ने पूछा—इन (अमुक-अमुक संप्रदायों) में साधु कौन और असाधु कौन?

तब स्वामीजी बोले—किसी ने पूछा, शहर में साहूकार कौन और दिवालिया कौन? एक समझदार आदमी ने उत्तर दिया—ऋण लेकर लौटा देता है, वह साहूकार और ऋण नहीं लौटाता तथा मांगने पर झगड़ा करता है, वह दिवालिया।

इसी प्रकार पांच महाव्रतों को स्वीकार कर उनकी सम्यक् पालना करता है वह साधु और जो उनकी सम्यक् पालना नहीं करता वह असाधु।

## गहना कहां से आएगा?

स्वामीजी घर में थे तब उनके गांव कंटालिया में कोई चोर किसी का गहना चुराकर ले गया। तब बोरनदी गांव से एक अंधे कुम्हार को बुलाया। उसके शरीर में देवता आता है, ऐसा कहा जाता था, इस दृष्टि से उसे चोरी गए गहने का पता लगाने के लिए बुलाया।

उस कुम्हार ने स्वामीजी से पूछा—भीखणजी! यहां किस पर बहम किया जाता है?

तब स्वामीजी ने उसकी ठगाई को प्रकट करने के लिए कहा—बहम तो मजनूं पर किया जा रहा है।

रात का समय हुआ। अंधे कुम्हार ने अपने शरीर में देवता का प्रवेश कराया। बहुत लोगों के सामने वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा—डाल दे रे, डाल दे।

लोग बोले—चोर का नाम बताओ।

तब वह बोला—ओ! ओ! मजनूं रे मजनूं। गहना मजनूं ने लिया।

वहां एक अतीत (संन्यासी) बैठा था। वह अपना घोटा लेकर उठा और बोला—मजनूं तो मेरे बकरे का नाम है। उस पर तुम चोरी का आरोप लगाते हो?

तब लोगों ने जान लिया, यह ठग है।

स्वामीजी ने लोगों से कहा—तुम आंख वालों ने गहना खोया और अंधे से निकलवाना चाहते हो, तब वह गहना कहां से आएगा?

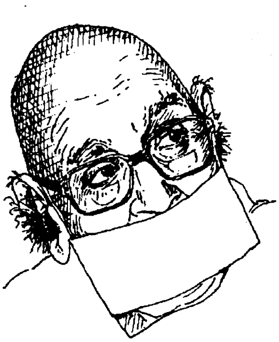

मनोविज्ञान के अनुसार आत्मख्यापन मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। हर व्यक्ति की यह आकांक्षा होती है कि उसका वैशिष्ट्य प्रकट हो। दूसरे लोग उसका मूल्यांकन करें, किंतु अन्य लोगों के प्रति उसका दृष्टिकोण सकारात्मक नहीं होता। वह उनकी विशेषताओं में भी कमी देखता है। अपनी बड़ी-से-बड़ी गलती उसे छोटी दिखाई देती है, जबकि दूसरों का साधारण-सा दोष पहाड़ जितना बड़ा हो जाता है। यह दृष्टिकोण का अंतर है, जो व्यक्ति को अपने दोषों में अच्छाई का भ्रम पैदा कर देता है। अंतर्मुखी व्यक्ति की दृष्टि पारदर्शी होती है, वह बाहर के सब आवरणों को चीरकर अपनी दुर्बलताओं को देख लेता है। कबीर ने इसी रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा है—

**बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय। जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।।**

मनुष्य और कुछ देखे या नहीं, इतना अवश्य सोचे कि आनंदमय जीवन कैसे जीया जा सकता है? आनंद का स्रोत कहीं बाहर नहीं है। इस खोज में खुद को ही खपना होगा। 'जिन खोजा तिन पाइया'—का सिद्धांत अनुभव की वाणी है। भगवान महावीर ने कहा—'पतेयं सायं, पतेयं वेयणा'—सुख-दुख अपना है। कोई किसी को न सुखी बना सकता है और न दुखी बना सकता है। दूसरे लोग तो मात्र बैसाखी बन सकते हैं। उनका सहारा उसी को मिलेगा, जो उन्हें स्वीकार करेगा। अन्यथा बैसाखियां तो जड़ हैं। वे किसी को जबरन चलने के लिए प्रेरित नहीं करेंगी। दूसरों के द्वारा सुख-दुख के निमित उपस्थित किए जा सकते हैं, पर संवेदन तभी होगा, जब व्यक्ति उन निमितों को स्वीकार करेगा।

**—आचार्यश्री तुलसी**

आदमी में नम्रता, क्षमाशीलता हो, जिसका स्वभाव बड़ा हो, वही बड़ा होता है। अर्थात् व्यक्ति सदात्मा तो बन ही जाए। महात्मा बन सके तो बड़ी बात है। यदि परमात्मा बनने की स्थिति तक पहुंच जाए तो समझ लें जीवन का सार निकाल लिया। व्यक्ति आत्म-विश्लेषण करे, स्वयं में झांक कर देखे कि मेरा स्तर कौन-सा है? मुझमें कौन-सी कमी है? यदि मैं एक साथ सबको नहीं छोड़ सकूं तो कम-से-कम एक पर ध्यान तो केंद्रित करूं। निरंतर अनुप्रेक्षा कर, अभ्यास कर, उसका परिष्कार कर लूं। फिर दूसरी क्रमशः जो कमियां हैं, उन्हें ठीक कर सकूं। साधक ध्यान करता है पर उसका लाभ उसे तब ही प्राप्त होता है जब उसमें गुणात्मकता विकसित हो। ध्यान तो करते चले जा रहे हैं और शुद्धि नहीं है तो उससे कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है। व्यक्ति सोने से पहले सोचे—आज मैं कौन-से भावों की गिरफ्त में रहा। क्या नकारात्मक (नेगेटिव) भाव मुझ पर हावी रहे या सकारात्मक (पॉजिटिव) भावों का प्रभाव मुझ पर पड़ा।

यदि व्यक्ति की जीवनशैली ठीक है तो समझ लें आज का दिन सार्थक हो गया। यदि किसी प्रकार की त्रुटि व प्रमाद से आज का दिन व्यर्थ, निरर्थक गंवा दिया तो समझ लें कि आज का दिन मैंने खो दिया। व्यक्ति बार-बार सोचे, अपना आत्मनिरीक्षण करें और विचारणा करे कि अब मैं प्रमादवश ऐसी गलती नहीं करूंगा। यह भी चिंतन करे कि मेरी प्रवृत्ति दुरात्मा की रही या सदात्मा की। कभी-कभी देखा जाता है कि व्यक्ति सदात्मा दिखाई देता है, होता भी है और अगले क्षण में वह दुरात्मा का रूप धारण कर लेता है। निषेधात्मक भाव उसे घेर लेते हैं। यह भी संभव है कि व्यक्ति दुरात्मा था पर विधायक भावों के चिंतन से अगले ही क्षण सदात्मा बन गया।

**—युवाचार्यश्री महाश्रमण**

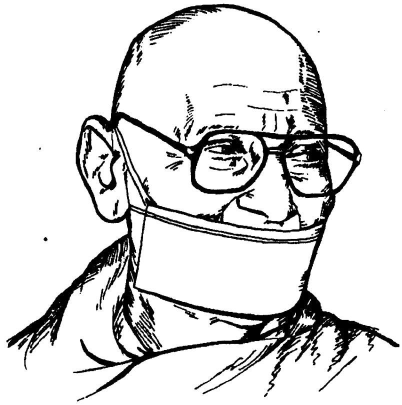

साधना का सबसे बड़ा योग है—ध्यान। ध्यान का अर्थ है—निर्विकल्पता। जहां कोई विकल्प नहीं, विवाद नहीं। इसमें मतवाद का प्रश्न ही नहीं उठता। साधना में मुंह बंद होता है, कान बंद होते हैं, आंखें बंद होती हैं, फिर वहां विवाद का प्रश्न ही कैसे उठेगा? हमारी जो नैतिकता की पूंजी है, उसकी मूल पृष्ठभूमि है—अध्यात्म। अध्यात्म के आधार पर ही नैतिकता विकसित हो सकती है। आज हमारा सारा ध्यान शरीर-केंद्रित हो गया है। मूल है—मन। उसकी हम उपेक्षा करते चले जा रहे हैं। हमें सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है—मन।

दो वस्तुएं हैं—आत्मा और प्राण। एक है—आत्मशक्ति और एक है—प्राणशक्ति। एक है—प्राणबल और एक है—आत्मबल। हमारा लक्ष्य है—आत्मोपलब्धि। हम आत्मा के मूल स्तर तक पहुंचना चाहते हैं। आत्मा को पाना चाहते हैं, मूल चेतना तक पहुंचना चाहते हैं। यह हमारा मूल लक्ष्य है। प्राण इससे पहले आता है। उसका स्थान इससे पूर्व है। आत्मा तक कौन पहुंच पाता है? आत्मा तक वही पहुंच पाता है, जो प्राणवान है, जो शक्तिशाली है। जिसका मनोबल ऊंचा है, जिसका संकल्प-बल प्रबल है—वह पहुंच सकेगा आत्मा तक। जिसकी इच्छाशक्ति प्रबल है, वह आत्मा तक पहुंच पाएगा। जिसका मनोबल क्षीण है, जिसका संकल्पबल क्षीण है, जिसकी इच्छाशक्ति, प्राणशक्ति दुर्बल है, जो वीर्यहीन है—वह कभी आत्मा को नहीं पा सकता। आत्मा को पाने के लिए प्राण को शक्तिशाली बनाना जरूरी है। जो जाप का स्तर है, वह प्राण के स्तर पर चलने वाला क्रम है। यह प्राण को शक्तिशाली बनाता है। प्राण हमारी विद्युतशक्ति होती है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होता, जिसमें यह शक्ति न हो। हमारी सारी सक्रियता-चंचलता, हमारा उन्मेष और निमेष, हमारी वाणी, हमारा चिंतन, हमारी गति, हमारी दीप्ति, हमारा आकर्षण—ये सब प्राण के आधार पर होते हैं, विद्युत शक्ति के आधार पर होते हैं। विद्युत ही ये सारे कार्य निष्पन्न करती है। विद्युत को बढ़ाना मनोबल को बढ़ाना है। जिसकी विद्युत तीव्र होती है, उसका मनोबल बढ़ जाता है। जिसकी विद्युत क्षीण होती है, उसका मनोबल घट जाता है।

—**आचार्यश्री महाप्रज्ञ**

## प्रसंग

# मनुष्य और सामुदायिकता

सामूहिकता और सामुदायिकता के बीच बहुत बारीक अंतर किया जा सकता है। पर, दोनों में विशेष अर्थ-भिन्नता नहीं मानी जा सकती। समूह मनुष्यों का भी हो सकता है और पशुओं का भी, पर समुदाय की बात जब आती है तो नहीं माना जा सकता कि वह पशुओं का भी हो सकता है। यदि यह अंतर मान लिया जाए तो दोनों शब्दों की अर्थ-भिन्नता काफी व्यापक हो जाती है। इस तरह यह भी मानना होगा कि समुदाय का अस्तित्व मनुष्य के अभाव में नहीं हो सकता, जबकि समूह किसी का भी बन सकता है। समुदाय में सम-उदय की बात भी सन्निहित है।

जब हम समुदाय पर एकाग्र होते हैं तब मनुष्य तो उसके केंद्र में रहता ही है, पर कुछ और बातों पर भी हमारा ध्यान जाता है। जैसे कि समुदाय का कुछ उत्तरदायित्व भी बनता है, उसकी जवाबदेही भी ठहराई जा सकती है। उसका अपना एक अनुशासन भी होता है और परस्परता भी। ये सभी बातें समूह के लिए भी कही जा सकती हैं, पर यदि वह पशुओं का हो तो हमें कठिनाई होगी कि ये उन पर कैसे लागू हों? इसलिए हम फिलहाल 'समुदाय' तक अपने को सीमित कर लें और 'मनुष्य व समुदाय' के परिप्रेक्ष्य में थोड़ा विचार करें।

'व्यक्ति और समाज' अन्योन्याश्रित हैं। 'व्यक्ति' इकाई का समूह ही समाज बनता है और अपने अनुशासनों, उत्तरदायित्वों के चलते उसमें एक सामुदायिकता विकसित होती है। परस्परता के आधार पर उनका टिकाव सुनिश्चित हो सकता है। ये बातें हम किसी भी समुदाय—'अ' 'ब' 'स'—के लिए समान रूप से स्वीकार करेंगे और कहना होगा कि सभी समुदायों का अवलंबन कतिपय समान आधारभूत बिंदुओं पर ही होता है। बुनियादी तौर पर अवलंबन के ऐसे बिंदु समान होते हुए भी दो समुदायों के बीच हम अक्सर टकराव होते हुए भी देखते हैं। इन टकरावों के फिर क्या कारण हो सकते हैं? टकरावों के ऐसे कारणों पर खुले दिमाग से विचार करने की जरूरत है।

ऐसे कारणों पर विचार की बात आते ही मुख्यतः दो बातों की ओर सर्वप्रथम ध्यान जाता है। ये हैं—धर्म और जाति। धर्म को दुर्भाग्य से सांप्रदायिकता की बाड़ेबंदी में कैद रख छोड़ा है और जाति-समूह की संकीर्णताएं उपजातियों तक फैलती चली गई हैं। अगड़ी और पिछड़ी के बीच के टकराव अब जाति-समूहों की उपजातियों

में भी देखे जा सकते हैं। इन विकारों पर निरंतर कुठाराघात भी हुए हैं। भगवान महावीर के काल में भी जाति और वर्गों को तोड़ने की बात हुई तो बीती सदी में डाक्टर राममनोहर लोहिया ने भी जाति-तोड़ो आंदोलन का सूत्रपात किया। यह तो नहीं कह सकते कि इनका कोई असर नहीं रहा, पर इस बात को मानना होगा कि हमारे देश में आजादी के बाद राजनीतिक स्वार्थों ने जातियों की संकीर्णता को बेजा तरीके से उभारा। इसके नतीजे हम आज साफ-साफ देख रहे हैं।

जातीय और सांप्रदायिक विषमताओं ने जिस तरह से अपने 'फण' फैलाए हैं, उसी के चलते यह जरूरी हो गया है कि इन 'फणों' को दंतहीन या विषहीन करने के व्यापक प्रयास किए जाएं। ऐसे प्रयास अलग-अलग स्तरों पर हो भी रहे हैं, पर उनका प्रभावी असर अत्यल्प है और व्यापक प्रयासों के लिए किसी तरह की आधारभूमि बनती प्रतीत नहीं हो रही। ऐसी स्थिति में छोटे स्तरों पर हो रहे प्रयासों की निरंतरता और उनकी मजबूती को बनाए रखना आवश्यक है। इस दिशा में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे मनीषी पिछले काफी समय से सक्रिय हैं। इसी सक्रियता का एक कदम सूरत (गुजरात) में नजर आया, जब तत्समय के राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम की उपस्थिति में 15 अक्टूबर, 2003 को 'सूरत स्प्रीच्युअल डिक्लरेशन' सामने आया। इससे पहले 'अहिंसा समवाय' नाम से एक मंच के जरिए छोटे-छोटे स्तरों पर होने वाले कामों को व्यापक फलक देने का प्रयास भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सान्निध्य और उनकी प्रेरणा से हुआ। ये ऐसे काम हैं जिन पर किसी की असहमति नहीं हो सकती, बेशक इनको अधिक असरदार और प्रभावी बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाए जा सकते हैं। सुझाव दिए जा सकते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति में वैयक्तिक और सामुदायिक, दोनों प्रकार की चेतना होती है। उनका मानना है कि वैयक्तिक विशेषताओं की उपेक्षा करके समाज-रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए व्यक्ति और समाज—दोनों का समन्वय साध कर व्यवस्था या नियम बनाने की बात वे कहते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी व्यक्ति-व्यक्ति में भावों की तरतमता को देखते हैं और कहते हैं कि अहिंसक समाज-रचना के लिए हृदय-परिवर्तन व दंडशक्ति—दोनों का संतुलित योग जरूरी है। वे इसे अनेकांतवादी दृष्टिकोण मानते हैं और मानते हैं कि असमानता में समानता के सूत्र को खोजने का प्रयत्न होना चाहिए। समन्वयवादी दृष्टिकोण वाले विचारक भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की तरह मानते हैं कि लोकतंत्र की यही ताकत है और इसी से वह मजबूत हो सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह भी मानना है कि अनेकांत से ऋजुता और अनाग्रह का मार्ग प्रशस्त होता है।

यदि बुनियादी तौर पर देखा जाए तो पाएंगे कि मूलतः मानव-स्वभाव में यह निहित ही है कि वह व्यक्ति और समाज के हितों को मिलाकर देखे। पर, प्रभावी रूप से ऐसा तभी संभव है जब ऋजुता और अनाग्रह का स्वभाव विकसित हो। स्व. श्यामाचरण दुबे जैसे प्रखर समाजशास्त्री मानते हैं कि भारत का एक सुदीर्घ इतिहास है और उसकी सामाजिक संरचना बहुत जटिल है। दुबेजी मानते हैं कि इतिहास और परंपराओं को बेहतर ढंग से तभी समझा जा सकता है जब उन पर से रहस्य का आवरण हटा दिया जाए। हम पाते हैं कि अधिकांश वितंडावाद अपने इतिहास व परंपरा को बेहतर ढंग से न समझ पाने के कारण ही होते हैं। समाजशास्त्री श्यामाचरणजी यह भी कहते हैं कि ज्ञान के प्रमुख प्रकार्यों में से एक है—मानसिक क्षितिज का विस्तार करना। यह मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि हमारा मानसिक क्षितिज यदि व्यापक हो जाए तो अनाग्रह की धारा स्वतः प्रवाहित हो सकती है, और तब हमारे स्वभाव में ऋजुता का प्रवेश भी सहज हो सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे मनीषी इसके लिए केवल सैद्धांतिक बात बता कर थम नहीं जाते हैं, वे इसके लिए प्रयोग की बात भी कहते हैं। उनके प्रयोगों से यह संभव है कि मनुष्य में ऋजुता और अनाग्रह का समावेश हो सके। ऐसा होने से ही समुदाय पुष्ट हो सकता है और मनुष्य का अस्तित्व भी सही अर्थों में प्रकट हो सकता है। इसके लिए जरूरी है कि हम विचार और प्रयोग की अनवरतता बनाए रखें।

ईसवी वर्ष 2007 के अवसान और 2008 के आगमन की घड़ी में यही एकमात्र अपेक्षा है कि हमारा चिंतन-मनन इस दिशा में निरंतर अग्रसर रहे।

**—शुभू पटवा**

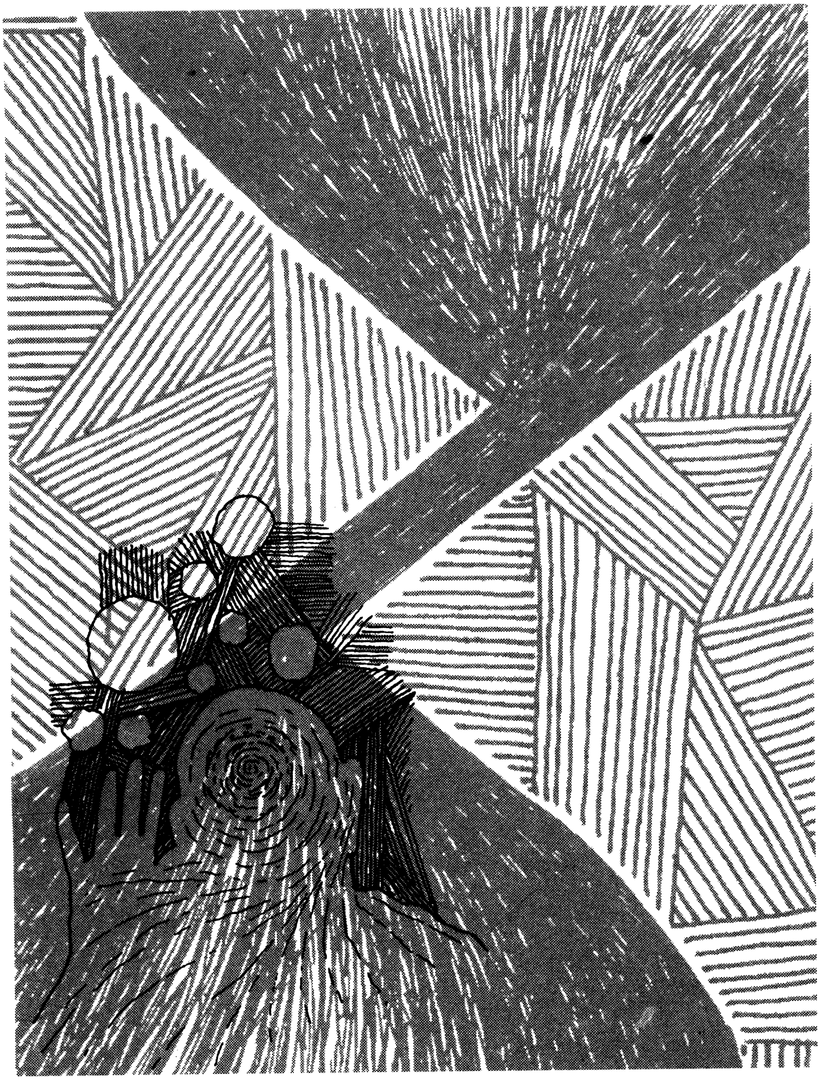

# विमर्श

विवेक-बुद्धि का व्यापार अधिकतर सूक्ष्म वस्तुओं के द्वारा चलता है। वे वस्तुएं हैं—धारणाएं, विचार, विश्वास, मान्यताएं, नैतिक और मानसिक दृष्टियां और लोगों के पारस्परिक संबंध। इन विचारों या धारणाओं में से एक धारणा—जो अभी तक व्यापक या दृढ़ नहीं हुई है—यह है कि किसी भी काम में सफलता तभी मिल सकती है, जबकि साधन साध्य के अनुरूप ही हो। यह बात गुण और मात्रा, दोनों के लिए सही है। आप हथौड़े आदि भारी औजारों से हाथ की घड़ी नहीं बना सकते। आप बड़ी पिचकारी से रंग छिड़ककर अजंता की चित्रकारी नहीं कर सकते। बार-बार पीट कर आप किसी बालक में या उस बालक से बढ़कर वयस्क बनने वाले व्यक्ति में सुख या भावनाओं का संतुलन पैदा नहीं कर सकते। स्पर्धा की प्रबल भावना से स्थाई मानव-एकता का निर्माण नहीं होता। हिंसा पर आश्रित रहकर किसी दीर्घजीवी राष्ट्र या संस्कृति का निर्माण नहीं किया जा सकता।

—रिचर्ड बी. ग्रेग

# अहिंसा की त्रिपदी

❀ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

दो परंपराएं बहुत प्राचीन हैं। एक है—श्रमण परंपरा और दूसरी है—ब्राह्मण परंपरा। भगवान महावीर श्रमण परंपरा के तीर्थंकर थे। श्रमण परंपरा में सम शब्द को सर्वाधिक मूल्य दिया गया। प्राकृत का 'सम' शब्द संस्कृत में तीन रूपों में व्याख्यायित हुआ है। सम—समता, शम—शांति और श्रम—तपस्या, स्वावलंबन और आत्म-निर्भरता। भगवान महावीर का मुख्य सिद्धांत यही त्रिपदात्मक 'सम' है। कालक्रम से यह घटित हुआ कि समता पृष्ठभूमि में चली गई और अहिंसा उभरकर सामने आ गई। पर, क्या उक्त त्रिपदी के बिना अहिंसा की कल्पना की जा सकती है?

*समता का एक आकार यह है कि सब जीवों के प्रति समता की अनुभूति। सब जीव शरीर, जाति, वर्ण आदि नानात्व से विभक्त बने हुए हैं। विभक्त में अविभक्त को खोजना अहिंसा का मुख्य आधार है। समतावादी दृष्टि का विकास हुए बिना यह खोज संभव नहीं बनती। महावीर भेद और अभेद—दोनों को एक साथ स्वीकार करते थे। केवल भेद और केवल अभेद—दोनों व्यवहार और तर्क से उलझे हुए हैं। भेद और अभेद का समन्वय एक समाधान है। भेद में अभेद खोजने पर ही समता का सिद्धांत प्राणवान बनता है।*

### महावीर का मुख्य सिद्धांत

अहिंसा जैन धर्म का मुख्य सिद्धांत है। यह अनुश्रुति है। यह जैन धर्म की पहचान है। इसे अवांछनीय भी नहीं कहा जा सकता। परम धर्म है, इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु, दार्शनिक इतिहास का अध्ययन इस धारणा को स्वीकृति नहीं देता। उसके अनुसार महावीर का मूल सिद्धांत समता है। अहिंसा उसका एक अंग है।

### हिंसा का बीज : क्रिया का समुच्चय

प्राण का अतिपात जीवन की समाप्ति है। हिंसा की धारणा इसी से जुड़ी हुई है। यह स्वाभाविक भी है। फल पर जितना ध्यान केंद्रित होता है, उतना बीज पर केंद्रित नहीं होता। हिंसा का बीज है—क्रिया का समुच्चय। उसे अनेक रूपों में देखा जा सकता है। महावीर के दर्शन में उसका वर्गीकरण इस प्रकार है—1. मृषावाद, 2. अदत्तादान, 3. मैथुन, 4. परिग्रह, 5. क्रोध, 6. मान, 7. माया, 8. लोभ, 9, राग, 10 द्वेष, 11. कल, 12. अभ्याख्यान, 13. पैशुन्य, 14. परपरिवाद, 15. रति-अरति, 16. माया-मृषा और 17. मिथ्यादर्शन।

### मानसिक विषमता

बीज की सत्ता, उर्वर भूमि, जल का सिंचन—यदि यह सब-कुछ मिले और बीज अंकुरित न हो—यह वैसी ही बात है जैसे कि वायुमंडल में मीथेन, ओजोन, नाइट्रोऑक्साइड तथा कार्बन ऑक्साइड की मात्रा बढ़े और पृथ्वी का तापक्रम न बढ़े।

मनुष्य का दृष्टिकोण आराम से प्रतिबद्ध है। शरीर को जितना आराम दिया जा सके, जितनी सुविधा दी जा सके, उसमें सार्थकता की

अनुभूति होती है। वैज्ञानिक स्पर्धा भी बुद्धिगम्य नहीं रह पाती। नए-नए आविष्कार और नए-नए पदार्थों का निर्माण। उनकी बाजार में भीड़, उपभोक्ता द्वारा उनका उपयोग। यह एक चक्र बना हुआ है। कुछ वर्षों तक यह चलता है, फिर अवांछनीय परिणाम की घोषणा हो जाती है। उपभोक्ता इतना अभ्यस्त हो गया है कि अनिष्ट परिणामों को जानते हुए भी उन्हें छोड़ नहीं सकता और पर्यावरण का असंतुलन बढ़ने लगता है। यह जानते हुए भी वैज्ञानिक अपना हाथ पीछे नहीं खींच पाता। यह मानसिक विषमता है। इससे हिंसा को संजीवन मिलता है।

मानसिक विषमता का एक दूसरा रूप है—परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित न कर पाना। मनचाही वस्तु मिलने पर खुश होना और न मिलने पर नाखुश होना। यह मन की विषम स्थिति है। सुख-दुख, जीवन-मृत्यु, निंदा-प्रशंसा—ये सब द्वंद्वात्मक स्थितियां हैं। मन की विषमता को एक ही भाषा में समझा जा सकता है।

## समता : अहिंसा का मुख्य आधार

समता का एक आकार यह है कि सब जीवों के प्रति समता की अनुभूति। सब जीव शरीर, जाति, वर्ण आदि नानात्व से विभक्त बने हुए हैं। विभक्त में अविभक्त को खोजना अहिंसा का मुख्य आधार है। समतावादी दृष्टि का विकास हुए बिना यह खोज संभव नहीं बनती। महावीर भेद और अभेद—दोनों को एक साथ स्वीकार करते थे। केवल भेद और केवल अभेद—दोनों व्यवहार और तर्क से उलझे हुए हैं। भेद और अभेद का समन्वय एक समाधान है। भेद में अभेद खोजने पर ही समता का सिद्धांत प्राणवान बनता है।

## विषमता : कारण और निवारण

मन की विषमता ही व्यावहारिक जगत में अनेक विषमताओं को जन्म देती है। व्यवहार और सिद्धांत की दूरी अवीतराग मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। बहुत लोग उस दूरी को पाटने का प्रयत्न ही नहीं करते। कुछ लोग उस दिशा में प्रयत्न करते हैं, पर लक्ष्य बिंदु तक पहुंचने में बहुत लंबा समय लग जाता है। मानसिक विषमता की एक निष्पत्ति आर्थिक विषमता है। समतावादी चेतना का विकास हुए बिना इस समस्या का समाधान संभव नहीं है। सब जीवों की समता की दुहाई देने वाला अपने लिए अतिरिक्त सुविधा चाहता है। अतिरिक्त सुविधा के लिए अतिरिक्त धन। जातिगत विषमता की पृष्ठभूमि में भी मानसिक विषमता पल रही है। व्यक्ति के मन में छिपा हुआ अहंकार अपनी उच्चता के आयाम खोजता है। दूसरों की निम्नता के बिना उच्चता अर्थवान नहीं होती। इसलिए वह जाति, रंग आदि-आदि के माध्यम से मद का पोषण करता है। समाज में विषमता पनप जाती है।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित समता को व्यापक संदर्भ में देखा जाना चाहिए। अहिंसा की समझ के लिए यह बहुत आवश्यक है। व्यापक समझ के अभाव में एक मनुष्य चींटी को आटा डालने में जागरूक रहता है, पर मनुष्य का शोषण करने में नहीं सकुचाता। यह विरोधाभास समता की समझ के द्वारा ही निरस्त हो सकता है।

भगवान महावीर ने कहा—**सच्चं भयवं**—सत्य ही भगवान है। जहां सत्य है, वहां अहिंसा है। जहां सत्य है, वहां शांति है। सत्य, अहिंसा और शांति—ये तीनों परस्पर जुड़े हुए हैं। इन्हें कभी पृथक नहीं किया जा सकता।

## प्रश्न अहिंसा की प्रतिष्ठा का

अहिंसा की बात तब तक फलित नहीं होगी जब तक मनुष्य के जीवन में संयम को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। आश्चर्य है कि अहिंसा की बात करने वाले भी इच्छा-संयम पर ध्यान नहीं देते हैं। इच्छाओं की वृद्धि से हिंसा को सहारा मिलता है। जब तक इच्छा का संयम नहीं होगा, अहिंसा की बात का कोई सार्थक परिणाम नहीं आ सकेगा। आर्थिक विषमता आज की मुख्य समस्या है और व्यक्तिगत स्वामित्व असीम हो रहा है। व्यक्तिगत स्वामित्व का न होना व्यावहारिक नहीं है, किंतु व्यक्तिगत स्वामित्व का असीम होना अन्याय है। अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए अहिंसा से पहले परिग्रह के सीमांकन पर ध्यान देना आवश्यक है।

अहिंसा की प्रस्थापना में एक महत्त्वपूर्ण आयाम है—हमारा सुविधावादी दृष्टिकोण बदले। हम प्रदूषण से चिंतित हैं, त्रस्त हैं। सुविधावादी दृष्टिकोण प्रदूषण पैदा कर रहा है, उस पर हमारा ध्यान ही नहीं जा रहा है। मैं जानता हूं कि समाज सुविधा को छोड़ नहीं सकता, किंतु वह असीम न हो—यह विवेक आवश्यक है। यदि

सुविधाओं का विस्तार निरंतर जारी रहा तो अहिंसा का स्वप्न यथार्थ में परिणत नहीं होगा।

## हिंसा : कारणों की खोज

सूर्य से अंधकार बरसता है—यह अचंभे में डालने वाली बात है। पर, मेरा मानना है कि इससे भी बड़ा आश्चर्य सामाजिक जीवन में हिंसा का विस्तार होना है। सामाजिक जीवन की आधारशिला है—परस्परता और समझौता। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का सहयोग करे, कोई किसी के लिए बाधा नहीं बने। आचार्य उमास्वाति ने दर्शन जगत को एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया है, उनका सूत्र यह है—**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**—एक-दूसरे को परस्पर सहारा देना। हर जीव का यह सहज आचरण रहा है। समाज दर्शन के क्षेत्र में भी इसका बहुत मूल्य है। समाज का अर्थ है—संबंधों का जीवन। शांतिपूर्ण संबंधों में समाज फलता-फूलता है। तनावपूर्ण संबंधों में वह मुरझा जाता है। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, राष्ट्र और राष्ट्र के बीच तनाव न हो, यह सबकी भावना होनी चाहिए। यदि तनाव है तो उसे कैसे मिटाया जाए, उसके उपाय भी खोजने चाहिए।

हिंसा के कारणों को पांच वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये हैं—मानसिक तनाव, निषेधात्मक दृष्टिकोण, मानसिक चंचलता, नाड़ीतंत्रीय असंतुलन और जैव-रसायनिक असंतुलन। इस विषय में अन्य अवधारणाएं भी मिलती हैं। जैसे—हिंसा का बीज 'जीन' में है, हिंसा का बीज वातावरण में है और हिंसा का बीज मौलिक मनोवृत्ति में है।

इन वैज्ञानिक अवधारणाओं के अतिरिक्त दार्शनिक धारणा यह है कि हिंसा के बीज कर्म-संस्कारों में हैं। इन अवधारणाओं के विस्तार में हम न जाएं और उक्त वर्गीकरण के पांच सूत्रों पर ध्यान केंद्रित करें तो हम अपने लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं, हिंसा में कमी ला सकते हैं और अहिंसा को विस्तार दे सकते हैं।

## अहिंसक संस्थाओं का अपना मंच हो

अहिंसा के विषय में क्या यह कार्य प्रयोग और प्रशिक्षण के बिना किया जा सकता है? एक प्राचीन अवधारणा है—अहिंसा एक जलाशय है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह उसकी सुरक्षा के सेतु-बंध हैं—**अहिंसा पयसः पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्।**

मैं एक दूसरी अवधारणा प्रस्तुत करना चाहता हूं, समस्या का मूल हेतु है—परिग्रह। अहिंसा उसका परिणाम है। आर्थिक समस्या ने हिंसा की समस्या को जटिल बनाया है। असत्य, चोरी उसकी परिक्रमा कर रहे हैं। कलह और युद्ध—यह हिंसा का शिखर है। भगवान महावीर की वाणी में अनुभव का साक्षात्कार होता है। अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाली स्वयंसेवी संस्थाओं का संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक मंच हो। इसी तरह अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाली स्वयंसेवी संस्थाओं का अपना एक स्वतंत्र मंच भी हो। उसका अपना अर्थशास्त्र हो, समाजशास्त्र हो, आचार-संहिता हो। यदि हम यह बात प्रस्तुत नहीं करेंगे तो अहिंसा विश्वमानस में अपना स्थान नहीं बना पाएगी।

## अहिंसा की सफलता के सूत्र

एक ओर अहिंसा की बात चल रही है और दूसरी ओर शिक्षा में अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है। वर्तमान शिक्षा केवल बौद्धिक विकास तक ही सीमित है। जब तक हमारी शिक्षा में बौद्धिक व्यक्तित्व के साथ भावनात्मक व्यक्तित्व के विकास की बात नहीं जुड़ेगी, अहिंसा की बात व्यर्थ हो जाएगी।

योगक्षेम वर्ष का प्रमुख उद्देश्य आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण करना था। ऐसा व्यक्तित्व, जिसमें अध्यात्म और विज्ञान—दोनों समान रूप से समाए हुए हों। केवल अध्यात्म बहुत उपयोगी नहीं होता और केवल विज्ञान बहुत खतरनाक होता है। यह असंतुलन एक समस्या है। जिसका समाधान खोजा जाना चाहिए।

आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण के लिए कुछ बातों पर ध्यान केंद्रित होना जरूरी है। जैसे—प्रवृत्ति-निवृत्ति का संतुलन, अनुकंपी-परानुकंपी तंत्र का संतुलन और मस्तिष्क के दाएं और बाएं पटल का संतुलन।

यदि इस संतुलन को साध पाएं तो अहिंसा का एक प्रायोगिक रूप विश्व के सामने प्रस्तुत होगा। मैं आशा करता हूं कि संतुलन का यह सूत्र जन-जन तक पहुंचेगा और अहिंसा को विश्वव्यापी प्रतिष्ठा मिलेगी। यदि ऐसा हुआ तो अहिंसा का शुभ और तेजस्वी रूप प्रस्फुटित हो सकेगा। ❖

# आत्मा, बंध और मोक्ष

स्वामी विवेकानंद

*इस जन्म से मृत्यु और मृत्यु से जन्म की ओर जाने का, इस यात्रा-परंपरा का नाम संस्कृत में संसार है। सारी सृष्टि इसी चक्कर में पड़ी है और सब इस चक्र को पार करके मुक्ति की शांति का लाभ कभी-न-कभी करेंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि सबका मोक्ष हो जाएगा तो हम उसे पाने के लिए प्रयास क्यों करें? यदि सब लोग छुटकारा पा जाएंगे तो हम हाथ पर हाथ धरे बैठे चुपचाप बाट देखेंगे। इसमें तो संदेह ही नहीं कि सब कभी-न-कभी मुक्त होंगे, कोई छूटेगा तो है ही नहीं। किसी का नाश तो होगा नहीं, सब फिर ठीक बन जाएंगे। यदि यह ठीक है तो हमारे इस प्रयास की आवश्यकता क्या है? पहली बात तो यह है कि यह सब प्रयास उसी केंद्र तक पहुंचने के लिए ही एक उपाय है। दूसरी बात यह है कि हमें यह मालूम नहीं कि हम प्रयास क्यों करते हैं? पर, हमें प्रयास करना ही पड़ता है। सहस्रों मनुष्यों में किसी-किसी को इसका ज्ञान हो गया है कि वे मुक्त होंगे। बहुसंख्यक लोगों के लिए भौतिक पदार्थ ही सब-कुछ हैं।*

आत्मा ही मनुष्य के शरीर में एक ऐसी सत्ता है जो भौतिक नहीं है। जो भौतिक नहीं है वह संयोगज भी नहीं है, वह कार्य-कारण के नियम के बाहर है—अतः अमर है। जो अमर है उसका आदि नहीं, क्योंकि जिसका आदि होता है उसका अंत भी होता है। इससे यह भी समझ में आता है कि वह अमूर्त, अरूप अवश्य है। बिना द्रव्य के कोई मूर्ति या रूप हो ही नहीं सकता। जिसके रूप है उसके आदि और अंत भी होते हैं। ऐसा कोई रूप देखा ही नहीं गया कि जिसका आदि और अंत न हो। रूप द्रव्य और शक्ति के संयोग से उत्पन्न होता है। कुर्सी का रूप है, अर्थात् कुछ द्रव्य पर कुछ शक्ति लगी है, दोनों मिलकर एक रूप बना हुआ है। रूप, द्रव्य और शक्ति के संयोग का परिणाम है। यह संयोग नित्य नहीं हो सकता; प्रत्येक संयोग का कभी-न-कभी वियोग या नाश अवश्य है। अतः सब रूपों का आदि और अंत है। हम यह जानते हैं कि शरीर का नाश ध्रुव है, इसका आदि है तो अंत अवश्य होगा। पर, आत्मा का रूप नहीं है। इससे यह आदि और अंत के बंधन में नहीं आ सकता। यह अनादिकाल से है, जैसे काल नित्य है, वैसे आत्मा भी नित्य है। दूसरे यह सर्वगत या व्यापक भी है। रूप में ही देश का बंधन होता है। जो अरूप है वह देश से बद्ध कहां? अद्वैत दर्शन के अनुसार आत्मा, तुममें, मुझमें और सबमें व्याप्त है। वह सर्वव्यापी है। आप जैसे इस पृथ्वी में हैं वैसे ही सूर्य में हैं। जैसे इंगलिस्तान में हैं, वैसे ही अमेरिका में, पर आत्मा मन और शरीर द्वारा कर्म करता है। जहां शरीर और मन है, वहीं उनके कर्म दिखाई पड़ते हैं।

हमारे प्रत्येक कर्म और विचार से मन में एक संस्कार उत्पन्न होता है। इन्हीं संस्कारों से मिलकर एक प्रबल शक्ति बन जाती है, जिसे 'कर्म' कहते हैं। कर्म मनुष्य का आत्मोपार्जित है, वह उसके जन्मभर किए हुए कायिक और मानसिक कर्मों का विपाक है। सब संस्कारों को मिलाकर वह शक्ति उत्पन्न होती है जो मनुष्य को मरने पर यथायोग्य शरीरांतर में ले जाती है। मनुष्य मरता है, शरीर पंचतत्त्व को प्राप्त होता है और तत्त्व तत्त्व में मिल जाते हैं, पर संस्कार मन के साथ लगा रहा जाता है। मन सूक्ष्म द्रव्यों से बना है, उसका तुरंत नाश नहीं होता, क्योंकि जो द्रव्य जितने सूक्ष्म होते हैं वे उतने ही अधिक स्थाई होते हैं। पर, बहुत दिनों पीछे मन का भी नाश होता है और उसी के नाश करने का हम लोग प्रयत्न कर रहे हैं। इस संबंध में मुझे सबसे अच्छा उदाहरण बवंडर का

जान पड़ता है। सब ओर से वायु के भिन्न-भिन्न झोंके आकर मिलते हैं और एक जगह मिल कर एक हो जाते हैं और चक्कर मारने लगते हैं। ज्यों वे घूमते हैं, धूल का स्तंभाकर बन जाता है। वे आस-पास के कागज के टुकड़ों और पत्तियों को खींच लेते हैं। ज्यों-ज्यों चक्कर खाते हैं, उन्हें गिराते और आगे बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार वे आगे जाते हैं और चीजें उनके मार्ग में आती हैं, उन्हें लेते और गिराते उसी प्रकार से चले जाते हैं। इसी प्रकार वे शक्तियां, जिन्हें प्राण कहते हैं, इकट्ठी होकर प्रकृति से मन और शरीर की कल्पना करती हैं या बना लेती हैं और जब तक शरीर का पात नहीं होता, गति करती हैं। फिर वे प्रकृति से नए-नए शरीरों की रचना करती जाती हैं। एक शरीर गिरा, दूसरा बना, यों ही चलता रहता है। शक्ति बिना द्रव्य के आगे नहीं चल सकती है। अतः जब शरीर का पात हो जाता है, मन रह जाता है और प्राण संस्कार के रूप में मन पर काम करता रहता है। फिर वह अन्यत्र जाता है और नए द्रव्य से नया बवंडर बमाता है और नई गति आरंभ करता है। इस प्रकार मन एक स्थान से दूसरे स्थान पर तब तक फिरता रहता है जब तक कि उसमें शक्तियों का व्यय नहीं हो जाता, तब वह गिर पड़ता है और उसका अंत हो जाता है। इस प्रकार जब मन का अंत हो जाता है, वह छिन्न-भिन्न और नितांत संस्कारशून्य हो जाता है, उस समय हम मुक्त हो जाते हैं और उस समय तक ही हम बंधन में रहते हैं। तभी तक आत्मा मन के बवंडर से आच्छादित रहता है और जानता है कि मैं एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा रहा हूं। जब बवंडर जाता रहता है, आत्मा का बोध हो जाता है कि मैं सर्वव्यापी हूं। मैं जहां चाहूं जा सकता हूं, मैं मुक्त हूं, जितने चाहूं मन और शरीरों की रचना कर सकता हूं। पर, जब तक ऐसा नहीं होता, वह बवंडर के साथ उड़ा फिरता है। यही मुक्ति हमारा लक्ष्य है, जिसकी ओर हम जा रहे हैं।

मान लीजिए कि घर में एक गेंद है, हम लोग हाथ में चौगान लिए उसे मार रहे हैं, सैकड़ों चोटें पड़ती हैं, गेंद एक ओर से दूसरी ओर मारा-मारा फिरता है और होते-होते वह कमरे के बाहर निकल जाता है। वह किस बल से किस ओर निकल जाता है, इसका पता उन चोटों से चल सकता है, जिनके कारण वह कमरे में एक ओर से दूसरी ओर मारा-मारा फिरता है। भिन्न-भिन्न चोटों से वह भिन्न-भिन्न ओर जाता है और सभी चोटों का उस पर प्रभाव पड़ेगा। हमारे सारे मानसिक और कायिक कर्म मानो एक-एक चोट हैं। हमारा मन गेंद है, हम उन्हीं चोटों से इस संसार में एक स्थान से दूसरे स्थान पर सदा मारे-मारे फिर रहे हैं, हम किधर निकलेंगे, इसका पता इन्हीं चोटों से लग सकता है। जैसे चोट-चोट पर गेंद की गति और वेग का अनुमान हो सकता है, उसी प्रकार हमारे जन्म के कर्मों से हमारे भविष्य, जन्मांतर का पता चल सकता है। हमारा वर्तमान जन्म हमारे पूर्वकर्मों का फल है। यह तो एक बात हुई। अब मान लीजिए कि आपको एक ऐसी जंजीर दी गई है जिसके ओर-छोर का पता नहीं, पर उसमें काली और उजली कड़ियां लगातार लगी हैं। अब आपसे यदि कोई पूछे कि जंजीर कैसी है, तो पहले तो आपको कठिनाई पड़ेगी, आप चकराएंगे, कहेंगे कि इसके ओर-छोर का तो पता नहीं, पर थोड़े ही समय में आपकी समझ में आ जाएगा कि यह जंजीर है, काली और उजली कड़ियों को आगे-पीछे लगा कर बनी है, सारी जंजीर में दो प्रकार की कड़ियों की आवृत्ति है, ये ही काली-उजली कड़ियां अनंत गुनी होकर जंजीर बन जाती हैं। कड़ियों के रंग-रूप को जानकर आपको सारी जंजीर कैसी है, इसका ज्ञान हो जाता है। क्योंकि वैसी ही कड़ियां उस जंजीर में लगातार लगती गई हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान के हमारे सारे जन्म मिलकर एक जंजीर बनी हुई है, जिसके ओर-छोर का पता नहीं। उस जंजीर की एक-एक कड़ी एक-एक जन्म है, उत्पत्ति और विनाश उन कड़ियों के दोनों अंत हैं। वे ही कड़ियां बिना विपर्यय के बारंबार आया करती हैं। जब यदि हम इन दोनों कड़ियों को जान लें, तब तो हमें इसका ज्ञान हो सकता है कि हम इस संसार में कैसे आ-जा सकते हैं। अंत में हम देखते हैं कि हमारे वर्तमान आगमन (जन्म) का ज्ञान पहले के आगमनों पर अवलंबित है। इसी प्रकार यह भी निश्चय है कि हम अपने कर्मों से ही संसार में उत्पन्न हुए हैं, जैसे अपने वर्तमान कर्मों के संचय को लेकर हम आगे जाते हैं, वैसे ही हमारे पूर्व के कर्मों के संचय से हमारे इस जन्म का होना निश्चित है; जिसके कारण हम जाते हैं—उसी से हम आते भी हैं, जो हमें ले जाता है, वही हमें लाया भी है।

हमें लाता कौन है? हमारे पूर्वजन्म के कर्म। हमें ले कौन जाता है? हमारे इस जन्म के कर्म। इसी प्रकार हम आते-जाते हैं। कुसियारी का कीड़ा अपने मुंह से सूत

निकालकर अपने लिये कोसा बनाता है और अंत को उसी कोसे में बंद हो जाता है। उसी प्रकार हम अपने कर्मों से बंधन में पड़े हैं। हमने अपने-आप कर्मजाल रच कर अपने को बंधन में डाल रखा है। हमने ही परिणाम के नियम या चक्कर को प्रवर्तित किया और अब उसी से हमें निकलना कठिन पड़ रहा है। हमने ही कोल्हू चलाया और हमारा ही उसमें कचूमर निकल रहा है। इस प्रकार इस दर्शन की यह शिक्षा है कि हम अपने नियत शुभाशुभ कर्मों के कारण बद्ध हो रहे हैं।

आत्मा न कभी आता है, न जाता है। न इसका जन्म है, न मरण। यह प्रकृति है जो आत्मा के सामने फिर रही है, उसकी गति का आभास आत्मा पर पड़ता है और वह अज्ञानवश यह समझे हुए है कि मैं एक गति कर रहा हूं। प्रकृति गति नहीं करती है। इसी से जब आत्मा अपने को अज्ञानवश बद्ध समझ रहा है, तब वह बद्ध है। जब उसे यह बोध हो जाता है कि मैं अचल हूं, मैं सर्वव्यापक हूं, तब वही मुक्त हो जाता है। बद्ध आत्मा का नाम ही जीव है। अतः जब यह कहा जाता है कि आत्मा आता-जाता है, तो वह समझने की सुगमता के लिए कहा जाता है; जैसे ज्योतिषशास्त्र में सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है। यह इसलिए मान लेने के लिए कहा जाता है कि अध्ययन में सुगमता पड़े, वास्तव में बात ऐसी नहीं है। इसी प्रकार जीव की ऊर्ध्वगति और अधोगति की बात है। इसी का नाम आवागमन है और सारी सृष्टि इस नियम में बद्ध है।

लोगों को यह सुनकर अचंभा होता है कि पशुयोनि से लोग मनुष्ययोनि को कैसे प्राप्त होते हैं! पर, आश्चर्य की बात क्या है? चौंकते क्यों हो? इन असंख्य पशुओं की क्या गति होगी? क्या वे कुछ हैं ही नहीं? जैसे हममें जीव है, वैसे उनमें भी तो जीव है। यदि उनमें जीव नहीं है, तो हममें भी नहीं है। यह असंगत बात है कि मनुष्य में तो जीव है और पशुओं में नहीं। मैंने तो कई मनुष्यों को पशुओं से भी गया-बीता देखा है।

मनुष्य की आत्मा ऊंच-नीच, सभी योनियों में अपने संस्कारवश भ्रमण करती रहती है, पर मनुष्ययोनि ही सबसे श्रेष्ठ है और इसी में उसे मुक्ति मिल सकती है। देवयोनि और अन्य सारी योनियों से मनुष्ययोनि श्रेष्ठ है। मनुष्य से बढ़कर कोई नहीं है।

सारा विश्व ब्रह्म में था, उसी से मानों व्यक्त हुआ और चला जा रहा है और जैसे बिजली अपने विद्युत केंद्र से निकलकर, चक्कर लगाकर उसी में लौट जाती है, वैसे ही यह अंत को घूम-फिरकर ब्रह्म ही में जाता है। यही दशा जीवात्मा की भी है। वह ब्रह्म से व्यक्त होता है और जंगम-स्थावर योनियों में भ्रमण करता हुआ मनुष्य योनि में आता है। मनुष्ययोनि ही ब्रह्म को प्राप्त करने का मार्ग है, यह उसके संनिकट है। जिस ब्रह्म से हम व्यक्त हुए हैं, उस ब्रह्म को प्राप्त करना ही सारा प्रयास है, चाहे लोग जानें या न जानें, इसकी चिंता नहीं। इस विश्व में जो कुछ गति और प्रयत्न—क्या जड़, क्या चेतन, क्या जंगम, क्या स्थावर—जहां कहीं दिखाई पड़ते हैं, सब उसी में जाकर शांति लाभ करने के लिए हो रहे हैं। एक शांतावस्था थी, उसमें भंग पड़ गया। सब अंग, सब अणु-परमाणु, अपनी उसी खोई हुई शांतावस्था को पाने के लिए छटपटा रहे हैं। इस प्रयास में सब का परस्पर संगम होता है, पुनः संगठन होता है तथा उसी से प्रकृति के अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक कृत्य हो रहे हैं। सारे प्रयास और गहमागहमी जो जंगम-स्थावर में दिखाई पड़ती है, सारे सामाजिक झगड़े, लड़ाइयां, सब-कुछ उसी शांति के लाभ के लिए अनादि-अनंत छटपटाना ही है।

इस जन्म से मृत्यु और मृत्यु से जन्म की ओर जाने का, इस यात्रा-परंपरा का नाम संस्कृत में संसार है। सारी सृष्टि इसी चक्कर में पड़ी है और सब इस चक्र को पार करके मुक्ति की शांति का लाभ कभी-न-कभी करेंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि सबका मोक्ष हो जाएगा तो हम उसे पाने के लिए प्रयास क्यों करें? यदि सब लोग छुटकारा पा जाएंगे तो हम हाथ पर हाथ धरे बैठे चुपचाप बाट देखेंगे। इसमें तो संदेह ही नहीं कि सब कभी-न-कभी मुक्त होंगे, कोई छूटेगा तो है ही नहीं। किसी का नाश तो होगा नहीं, सब फिर ठीक बन जाएंगे। यदि यह ठीक है तो हमारे इस प्रयास की आवश्यकता क्या है? पहली बात तो यह है कि यह सब प्रयास उसी केंद्र तक पहुंचने के लिए ही एक उपाय है। दूसरी बात यह है कि हमें यह मालूम नहीं कि हम प्रयास क्यों करते हैं? पर, हमें प्रयास करना ही पड़ता है। सहस्रों मनुष्यों में किसी-किसी को इसका ज्ञान हो गया है कि वे मुक्त होंगे। बहुसंख्यक लोगों के लिए भौतिक पदार्थ ही सब-कुछ हैं, पर कुछ ऐसे लोग भी हैं जो जागते हैं और यह चाहते हैं कि अब बहुत खेल खेल चुके, अब तो घर लौटें, वे लोग जान-बूझ कर प्रयास करते हैं। पर, औरों का प्रयास तो अनजाने ही होता रहता है।

वेदांत का यही 'अर्थ' और 'इतिश्री' है कि संसार को त्यागो, अर्थात् असत् को छोड़ो और सत् को ग्रहण करो। जो संसार में मुग्ध हैं, वे कहेंगे कि यह तो बतलाइए कि हम संसार को छोड़ कर ब्रह्म की ओर क्यों जाएं? माना कि हम ब्रह्म ही से आए हैं, पर हमें तो यह संसार भला और आनंदप्रद जान पड़ता है। भला ऐसी दशा में हम इसका प्रयत्न क्यों न करें कि हम यहां और अधिक काल तक बने रहें और अधिक सुख उठावें? फिर हम संसार से निकलने का प्रयत्न क्यों करें? वे यह भी कहते हैं कि देखिए संसार में नित्य नई-नई उन्नति हो रही है, नई-नई सुख की सामग्रियां बनती जा रही हैं। यहां बड़ा आनंद है, हम यहां से क्यों जाएं और ऐसे स्थान के लिए प्रयास क्यों करें जहां ये सब सामग्रियां नहीं हैं?

उत्तर यह है कि संसार में मरना ध्रुव है, इसका वियोग अवश्य होगा और बार-बार हमको वे ही भोग भोगने पड़ते हैं। जिन रूपों को हम आज देख रहे हैं, वे बार-बार बनते-बिगड़ते रहते हैं। यह संसार भी तो अनेक बार ऐसा ही बन चुका है। मैं यहां सैकड़ों बार इसी प्रकार आप लोगों से बातचीत कर चुका हूं। आपको जान पड़ेगा कि यह बिल्कुल ठीक है। यही बात जो आज आप सुन रहे हैं, आप अनेक बार सुन चुके हैं, अनेक बार और ऐसा ही होता रहेगा। आत्म अनेक नहीं है, शरीर अवश्य बार-बार बनते-बिगड़ते हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसा क्रमशः होता रहता है। मान लीजिए कि हमारे पास तीन-चार पासे हैं, उन्हें हम डालते हैं। पांच, चार, तीन और दो के दांव हैं, आप पासे फेंकते जाइए, वही दांव कभी-न-कभी अवश्य पड़ेगा। आप फेकें, पर चाहे जितनी बार अंतर क्यों न हो, वे ही दांव बार-बार पड़ेंगे। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कितने चोट पीछे वही दांव पड़ेगा, यह तो दैवाधीन है, पर वह कभी-न-कभी पड़ेगा अवश्य। यही दशा आत्मा और उसके संग की है। काल का अंतर कुछ ही क्यों न हो, पर वही संयोग बार-बार होता रहेगा। वही जन्म लेना, वही खाना-पीना, वही मरना, बार-बार होते हैं। कुछ लोगों की समझ में संसार से बढ़कर कहीं सुख ही नहीं है, पर कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो और ऊपर जाते हैं, उन्हें संसार का सुख पर्याप्त नहीं जान पड़ता और राह चलना समझ पड़ता है।

प्रत्येक योनि—कीट-पतंग से लेकर मनुष्य योनि तक—मानो शिकागो के चक्कर की एक-एक कोठरी है जो सदा चलती-फिरती है। एक आदमी चढ़ा, चक्कर पर चला और फिर आकर उतरा, पर चक्कर चलता ही जाता है। एक जीव एक शरीर धारण करता है, कुछ दिन उसमें रहकर फिर उसे छोड़ दूसरे में चलता बनता है। इसी प्रकार आना-जाना लगा रहता है। इसी प्रकार आते-जाते जीव चक्कर लगाता रहता और अंत को संसारचक्र से अलग होकर मुक्त हो जाता है। संसार में मनुष्य के भूत-भविष्य के ज्ञान की उत्कंठा सदा से सब जगह रही है। इसका समझौता यही है कि आत्मा या जीवात्मा जब तक परिणाम की धारा में बहता रहता है, यद्यपि वह मुक्त स्वभाव है और वह स्वभाव बना रहता है, तो भी तब तक वह प्रयत्न करता रहता है। परिणाम-धारा से निकलने के लिए वह मनुष्य रूप धारण कर मुक्त होने का प्रयत्न करता है, पर उसकी क्रिया पर परिणाम-नियम का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः चतुर और कुशाग्रबुद्धि पुरुष के लिए यह बहुत संभव है कि कार्य-कारण के तत्त्व को समझ कर किसी भूत और भविष्य को जान ले।

जब तक मनुष्य में इच्छा बनी है, मुक्ति मिलना कठिन है। मुक्त आत्मा में इच्छा कहां? ईश्वर को कुछ इच्छा नहीं है। यदि उसमें इच्छा हो तो वह ईश्वर कैसा? वह तो संसारी ठहरा! अतः ये सब बातें कि ईश्वर यह चाहता है, कि वह चाहता है, इस पर क्रोध किया, उस पर प्रसन्न हुआ—बच्चों की-सी बातें हैं, इनका कुछ अर्थ ही नहीं। अतः सब उपदेशकों ने यही कहा है कि किसी पदार्थ की इच्छा न करो, सब आकांक्षा त्यागो और संतुष्ट रहो।

बच्चा बिना दांत-घुटनों के बल आता है और बुड्ढा बिना दांत-घुटनों के बल जाता है। दोनों बातें एक-सी हैं, पर एक को अनुभव प्राप्त करना है, दूसरा अनुभव प्राप्त कर चुका है। जब ईथर की लहरें बहुत धीमी होती हैं, हमें प्रकाश नहीं देख पड़ता, अंधकार रहता है; पर जब लहरें बहुत वेग से उठती हैं, तब भी अंधकार रहता है। दोनों अंत बराबर से हैं, उनमें सुमेरु और कुमेरु का अंतर क्यों न हो। जैसे दीवाल में इच्छा नहीं, वैसे ही मुक्त पुरुष में इच्छा नहीं। सबसे उत्कृष्ट अवस्था वह है जिसमें हमें इच्छा न हो। बात एक ही है, पर दोनों एक ही सत्ता के भिन्न अंत हैं। एक पशुता के संनिकट है, दूसरा ब्रह्म के संनिकट। ❖

*अनुवाद : जगन्मोहन वर्मा*

# कर्मक्षयार्थ तप्यत इति तपः

✽ साध्वी कल्पमाला

*इच्छाओं का निरोध ही तप है—'इच्छा-निरोधस्तपः'। भारतीय दर्शनों में तपस्या को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वैदिक संहिताओं में प्रायः तापस के स्थान पर तैजस प्रयोग हुआ है। ब्रह्मा ने सृष्टि रचना की, उस का माध्यम तप था। तप के द्वारा उसने अपूर्व सामर्थ्य प्राप्त किया। तपस्या निष्काम होनी चाहिए। मुण्डकोपनिषद् में 'तपस्या चीयते ब्रह्म' तथा तैत्तिरीय आरण्यक में कहा है—'तपो ब्रमेति।' मनुस्मृति में—'चद्दुरन्तरं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् सर्वत तपस्या साध्यं तपोहि दुरविक्रमः।'—इस प्रकार तपस्या से अनेक लाभ मिलते हैं। निर्जरा की दृष्टि से भी उपवास महत्त्वपूर्ण है और वैज्ञानिक दृष्टि से भी। पाचन प्रणाली, ग्रंथि प्रणाली, रक्त-संचार प्रणाली, नाभिमंडल आदि उपवास से संतुलित रहते हैं तथा अंतर्वृत्तियों का शोधन होता है, उनको आराम उपवास से मिलता है।*

तप जैन साधना-पद्धति का प्राण है। तप जैनाचार की जननी है और भव-भव के संचित कर्मों को संपूर्ण रूप से दग्ध करने तथा भवसागर से सदा के लिए मुक्त होने का प्रबल और महत्त्वपूर्ण साधन है। जैन दर्शनानुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप—चार अंग प्रमुख हैं। इनमें सम्यक् तप का अपना विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इंद्रियों का और मन का निग्रह करने वाला अनुष्ठान-कर्म शरीर का तापक होने के कारण सम्यक् तप कहलाता है। **इंद्रियमनोनिग्रहकारक-मनुष्ठानं कर्म शरीर तापकत्वात् सम्यक् तपः**—कर्मक्षय के लिए शरीर और इंद्रियों को तप्त करना तप है। तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है—**तपसा निर्जरा च**—अर्थात् तप के द्वारा नूतन कर्म-बंध रुक कर पूर्वोचित कर्मों का क्षय होता है तथा विशुद्धि को प्राप्त करता है।

सूत्रकृतांग शीलांक कृत टीका 1/16 में लिखा है—**श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणो वाच्यः**। जो आत्मा की साधना के लिए श्रम करता है, या तपःसाधना से शरीर को खेदखिन्न करता है, वह श्रमण कहलाता है। भट्ट अकलंकदेव के अनुसार—**कर्मक्षयार्थ तप्यत इति तपः**—तैत्तिरीय आरण्यक में कहा है—**तपो ब्रमेति**—इस प्रकार तप की विभिन्न परिभाषाएं हैं।

वस्तुतः तप के समग्र रूप को किसी भी एक परिभाषा में आबद्ध करना अत्यधिक कठिन है। क्योंकि तप अंतर्मुखी-वृत्ति की साधना है। मूलाचार में तप को नगर की उपमा देते हुए कहा गया है—धैर्य, उत्साह और निश्चित गति तप रूपी नगर के परकोटे हैं, चारित्र उसका उत्तुंग गोपुर, क्षमा और धर्म उसके कपाट तथा संयम रक्षक के समान है। तप रूपी इस नगर को लूटने के लिए राग, द्वेष, मोह और इंद्रिय रूपी चोर उद्यत रहते हैं। तप आत्मशोधन और कर्मक्षय की एक अखंड प्रक्रिया है।

हर मनुष्य शक्ति-संपन्न बनना चाहता है। शक्तिहीन कोई नहीं रहना चाहता। उसके लिए जरूरी है—साधना। तपस्या से शून्य साधना हो नहीं सकती। जैसे सूर्य और अग्नि का ताप जिस तरह मलशुद्धि करता है, वैसे ही जैविक विद्युत का ताप भी मलों की शुद्धि करता है। तप शब्द 'तप्' धातु से बना है। जिसका अर्थ है 'तपना'। तपस्या अर्थात् 'तप' की अनेक परिभाषाएं हैं—

आचार्य अभयदेव सूरि ने लिखा—**रस-रुधिर-मांस-मेदास्थि-**

**मज्जा-शुक्राण्यनेन तप्यन्ते कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्तः।**

आचार्य मलयदेव सूरि ने कहा—**तापयति अष्ट प्रकार कर्म इति तपः।**

भगवान महावीर ने कहा—**तवसा धुणइ पुराणपावगं जुत्तो सया तवसमाहिए।**

तपस्या शक्ति है, भक्ति है। कर्म-संस्कारों से मुक्ति है। प्रथम चार बाह्य तपों का संबंध भोजन से है। खाना जितना महत्त्वपूर्ण है, नहीं खाना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। संतुलित आहार से शरीर को जहां पोषण मिलता है, वहीं उपवास आदि से पाचन तंत्र और अंतर्वृत्तियों को आराम मिलता है। जैन धर्म में तप को बाह्य और आभ्यंतर—इन दो भागों में विभाजित किया गया है।

### बाह्य तप

अनशन, अवमौदर्य (ऊनोदरी), वृत्तिपरिसंख्यान (भिक्षाचरी), रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश—ये छह बाह्य तप हैं—**अनशनावमौदर्यवृत्ति परिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्य तपः।** जिस तप में शारीरिक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा सहित होने से दिखाई देते हों, अर्थात् जो विशेष रूप से स्थूल शरीर को प्रभावित करते हैं—वे बाह्य तप हैं। बाह्य तप की साधना से तन व मन सहिष्णु बनता है। विशुद्धि, सरलता, एकाग्रता की विशेष रूप से साधना होती है तथा आभ्यंतर तप की ओर बढ़ने के लिए बाह्य तप सीढ़ियों का कार्य करते हैं। इसके छह प्रकार हैं। (1) **अनशन**—'आहार परिहारोऽनशनम्'— अर्थात् आहार का परिहार, उपवास से लेकर आगे की जितनी तपस्या की जाती है, वह अनशन है। अनशन के भी दो प्रकार हैं—इत्वरिक और यावज्जीवन। अध्यात्म-दृष्टि से आजीवन त्याग करना संथारा कहा जाता है। उपवास आदि से लेकर मंत्र साधना तक जो तप किया जाता है तथा बिना किसी फल की अपेक्षा से जो तप किया जाता है, वह इत्वरिक अनशन है। इससे आत्मिक वृत्तियों को बल मिलता है। दूसरा तप है—(2) **अवमौदर्य तप**—'अल्पत्वमूनोदरिका'—रुचि से कम खाना तथा आहार, पानी, वस्त्र, कषाय आदि में अल्पता करने को ऊनोदरी तप कहते हैं। 'उववाई सूत्र' में इसके दो भेद किए गए हैं—द्रव्यतः और भावतः। जिसका जितना आहार है, उससे कम खाना—द्रव्यतः तथा क्रोध, मान, माया, लोभ व कलह की प्रवृत्ति में कमी करना—भावतः अवमौदर्य तप है। संयम को जाग्रत रखने, दोषों को प्रशम करने, संतोष तथा स्वाध्याय आदि की सुख-पूर्वक सिद्धि के लिए यह तप किया जाता है। तीसरा तप है—(3) **वृत्ति परिसंख्यान तप**—'नानाभिग्रहाद् वृत्यवरोधो वृत्तिसंक्षेपः'। विशेष प्रतिज्ञाओं द्वारा खाद्य-विधि को सीमित करना वृत्ति परिसंख्यान तप है। इसका दूसरा नाम भिक्षाचरी है। इससे लोलुपता तथा अंतराय कर्म आदि का उच्छेद होता है तथा धैर्य गुण में वृद्धि होती है। तप का चौथा प्रकार है—(4) **रसपरित्याग तप**—'विकृतेर्वर्जनं रसपरित्यागः'। विकृतियों का त्याग करना रसपरित्याग तप है। इसमें दूध, दही, घी आदि रसीले पदार्थों का वर्जन किया जाता है। यह तप प्राण-संयम और इंद्रिय-संयम के लिए किया जाता है। जीभ जब सध जाती है, तब सब इंद्रियों का निरोध हो जाता है। पांचवां तप है— (5) **विविक्तशय्यासन तप**—'जत्थ विसोत्तिम अत्थि सद्दरसरूपगंधफासेहिं सज्झाय ज्झाणवाधादो वा वसधी विवित्ता सा'।—जिस वसति में मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप, गंध और स्पर्श के द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते, अथवा स्वाध्याय-ध्यान में व्याघात नहीं होता—वे विविक्त वसति हैं। स्थानांग और भगवती सूत्र में इंद्रिय, मन आदि की बहिर्मुखी प्रवृत्ति का प्रतिसंहरण करने अथवा उसे अंतर्मुखी बनाने का नाम प्रतिसंलीनता तप विविक्तशयनासन के स्थान पर माना गया है। छठा तप है—(6) **कायक्लेश तप**—'कायोत्सर्गाधासन करणं कायक्लेशः'। ठंड, गर्मी या स्थान, शयन, आसन आदि धर्मोपकरण के हेतुभूत विविध साधनों से शास्त्रों के अनुसार विवेकपूर्वक वृक्षमूल, अभ्रावकाश, आतापनादि से शरीर को कष्ट देना कायक्लेश तप है। इस तप का मूल उद्देश्य शरीर को कष्ट देना नहीं है, अपितु योगविधियों द्वारा उत्कर्ष की प्राप्ति, आत्मकल्याण की भावना व शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव से कष्ट को सहन करना है।

### आभ्यंतर तप

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान—ये अंतर्तप हैं—**प्रायश्चित्तविनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्**। प्रशस्त मनन और अनुशीलन द्वारा मन को एकाग्र, शुद्ध और निर्मल बनाना आभ्यंतर तप की विधि है। सन्मार्ग अर्थात् मुक्तिमार्ग रूप रत्नत्रय जिसका आचरण करते हैं, वे आभ्यंतर तप हैं। ये

छह प्रकार के हैं। पहला है—**प्रायश्चित्त तप**—'अतिचार विशुद्धये प्रयत्न प्रायश्चित्तम्।'—दोषों की विशुद्धि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। धारण किए हुए व्रत में प्रमादजनित दोषों का शोधन करना प्रायश्चित्त है, इससे दोषों का निराकरण हो जाता है। इसलिए कहा गया है कि मर्यादा का पालन, संयम की दृढ़ता और आराधना की सिद्धि के लिए श्रमणों को प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्ध होना आवश्यक है। दूसरा तप है—**विनय तप**—'आशातना—बहुमानकरणं विनयः।' आशातना का अभाव और बड़ों के बहुमान का भाव रखना विनय तप है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिचार रूप अशुभ क्रियाओं से निवृत्ति का नाम विनय है। 'विनयतीतिनियः'—अर्थात् जो अप्रशस्त कर्मों को दूर करता है और विशेष रूप से स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त करता है, वह विनय है। तीसरा तप है—**वैयावृत्य तप**—'परार्थव्यावृत्तिवैयावृत्यम्।' दूसरों का सहयोग करने के लिए व्यावृत होना व योग्य साधनों को जुटाकर अथवा अपने-आप को काम में लगाकर सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है। सेवा-भावना और कर्तव्य भावना की प्रेरणा से जो आत्मार्थी सहयोग करता है, वही वैयावृत्य कर सकता है। विनय और वैयावृत्य में यही अंतर है कि विनय मन के द्वारा होता है और वैयावृत्य शरीर के द्वारा किया जाता है। चौथा तप है—**स्वाध्याय तप**—'श्रुतस्याध्ययन स्वाध्यायः'। श्रुत अध्यात्मशास्त्र के अध्ययन को स्वाध्याय कहा जाता है। ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रमाद को छोड़कर विविध प्रकार का नूतन अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय से परोपदेश की भावना, शंका का समाधान, आत्मलीनता आदि गुणों की प्राप्ति होती है। पांचवां तप है—**व्युत्सर्ग तप**—'शरीरकषायादेः परित्यागो व्यत्सर्गः।' शरीर और कषाय आदि का विसर्जन करने को व्युत्सर्ग कहा जाता है। त्याग करने की विशिष्ट विधि को व्युत्सर्ग कहते हैं। मिथ्यात्व, हास्य आदि चौदह प्रकार के आभ्यंतर परिग्रहों के त्याग आभ्यंतर व्युत्सर्ग और क्षेत्र, वस्तु, धन-धान्य आदि दस प्रकार के बाह्य व्युत्सर्ग हैं। शरीर, गण, उपधि और भक्तपान-व्युत्सर्ग तथा कषाय, संसार और कर्म का विसर्जन करना भाव-व्युत्सर्ग कहलाता है। छठा तप है—**ध्यान तप**—'एकाग्रेमनः सन्निवेशनं योग निरोधो वा ध्यानम्।' किसी एक आलंबन पर मन को टिकाना अथवा मन, वचन और काय के निरोध को ध्यान कहते हैं। 'ध्यै चिन्तायाम्'—अर्थात् एक विषय में चिंतन करना ध्यान है। ध्यान व्यक्ति को अंतर्मुखी बनाता है। प्रेक्षाध्यान, अनुप्रेक्षा, भावना, प्राणायाम, दीर्घश्वास-प्रेक्षा, कायोत्सर्ग आदि ध्यान के प्रयोग हैं।

## उपवास क्यों आवश्यक है

जितना शरीर को भोजन की आवश्यकता है, उससे भी अधिक उपवास की आवश्यकता है। जब तक हम उपवास के महत्त्व को नहीं समझेंगे, तब तक भोजन की समस्या का कोई समाधान नहीं होगा। खाना जरूरी है, तो उसके साथ-साथ उपवास और नहीं खाना भी जरूरी है। जो उपवास करते हैं, उनमें सहज ही सहिष्णुता तथा संकल्पशक्ति का विकास हो जाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भिक्षु गीता में पवित्र पंचामृत के अंतर में तपस्या का वर्णन करते हुए कहा—

**आत्मोत्सर्गस्तपस्या च सहयोगः परस्परम्।**
**वात्सल्यस्य महत्त्वं च सम्यग् ग्रहणशीलता।।**
**पञ्चामृतमिदं पुण्यं अभिषिक्तो निरन्तरम्।**
**संघकल्पतरुर्येन पुष्पितः फलितो भवेत्।।**

आयुर्वेद का मानना है कि सप्ताह में एक बार उपवास अवश्य होना चाहिए। अश्विनीकुमार ने योगी का रूप बनाकर आयुर्वेद विशेषज्ञ आचार्य वाग्भट्ट से पूछा कि आयुर्वेद में ऐसी कौनसी औषधि है जो न भूमि से पैदा होती है, न पर्वत पर, न जल में, जिसमें कोई रस भी न हो, फिर भी शरीर के लिए हितकर हो। आचार्य वाग्भट्ट ने उत्तर दिया—

**अभूमिज मनाकाशं, पथ्यं रसविवर्जितम्।**
**पूर्वाचार्यैः समाख्यातं, लंघनं परमौषधम्।।**

आयुर्वेद में पूर्वाचार्यों द्वारा कथित एक ही औषधि है—लंघन यानी कम खाना, या न खाना। तपस्या सर्वश्रेष्ठ औषधि है। क्योंकि इससे शरीर की शुद्धि, रक्त-संचार सही, पाचन क्रिया ठीक—इसलिए उपवास आवश्यक है।

## आध्यात्मिक दृष्टि से उपवास का मूल्य

तप से आत्मा तेजस्वी बनती है, कुंदन सम बन जाती है। इसलिए जैन धर्म में उपवास का महत्त्व है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञान तपस्या द्वारा प्राप्त होता है। तप से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है। देवता भी तपस्वी को नमस्कार करते हैं, उसके पास आते हैं।

उपवास एक चिकित्सा-विधि भी है। उपवास-चिकित्सा पर पश्चिम में भी अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखी गई हैं।

भगवान महावीर ने उपवास के संबंध में लोगों को सचेत करते हुए कहा—'मृत्यु के समय तुम्हारा खाना छूटेगा ही, इसलिए मृत्यु से पूर्व खाना छोड़कर आत्मानुभूति का अभ्यास करो। आत्मा का अभ्यास तभी होगा जब 'आत्मा भिन्न और शरीर भिन्न' है—का ज्ञान होगा।' उपवास से चित्त की शुद्धि होती है। सामवेद में बताया गया—तप के द्वारा ही देवताओं ने मायावी राक्षसों का दहन किया। भागवत में लिखा है—जब ब्रह्मा प्रलय-समुद्र में बैठे हुए थे, सृष्टि पर चिंतन कर रहे थे—तो उन्हें ध्वनि में दो शब्द सुनाई पड़े 'त....प'—जो कि अकिंचन योगियों का परम धन है। फिर ब्रह्मा ने तप तपने के बाद सृष्टि का सृजन किया। ब्रह्मा के तप के प्रभाव से पहले धूम्र, फिर ज्योति, फिर ज्वाला का दिव्य प्रकाश, फिर समुद्र और सृष्टि की रचना हुई। धर्म की जो प्रमुख प्रवृत्तियां हैं—वे सब तप हैं। तभी तो कहा है—**ऋतं तपः सत्यं तपः ऋतं तपः शान्तं तपो दानं तपः।** अतः जो उपवास करता रहता है, उसके जीवन में सहज ही सहिष्णुता तथा संकल्पशक्ति का विकास हो जाता है।

### वैज्ञानिक दृष्टि से उपवास का मूल्य

उपवास से शरीर में स्वस्थता आती है, इसका वैज्ञानिक स्वरूप भी है। वैज्ञानिक स्वरूप के अनुसार—1. शरीर का भीतरी यंत्र रबड़ की तरह लचीली नलियों के समान है। अधिक खाने से वे फैल जाती हैं, जिससे रक्त-संचार की स्वाभाविक क्रिया में बाधा पड़ती है। 2. उपवास में भोजन ग्रहण नहीं करने से भोजन नली सिकुड़कर अपनी दशा में आने लगती है। रक्त से व्यर्थ का पानी निकल जाता है और वह गाढ़ा बन जाता है। यह क्रिया उपवास के कई दिनों तक चलती है। 3. उपवास में भोजन नहीं करने से शरीर में हलकापन महसूस होता है, परंतु शीघ्र ही नलिकाओं की दीवार से पुराना श्लेष्म निकलकर रक्त में मिल जाता है। तब रक्त अधिक गाढ़ा हो जाता है। गाढ़ा रक्त संकुचित नलिकाओं से प्रवाहित होता है, तो व्यक्ति को बेचैनी का अनुभव होता है। लेकिन, वह जब शीघ्र ही पेशाब के मार्ग से बाहर निकल जाता है, तब बेचैनी मिट जाती है। इसलिए पंचोले की तपस्या की अपेक्षा पखवाड़े का उपवासी अपने-आप में अधिक शक्ति का अनुभव करता है। शरीर के दोष निकालने से स्वस्थता बढ़ती है। 4. उपवास काल में फोड़ा या गांठ आदि बड़ी तीव्र गति से ठीक होते हैं। 5. उपवास काल में दूषित कोष विभिन्न प्रकार के पदार्थों में विभक्त होकर मल, मूत्र, त्वचा या श्वास-प्रश्वास के मार्ग से बाहर निकाल दिए जाते हैं। 6. उपवास काल में जब शुद्धि क्रिया तीव्र होती है, तब पेशाब में मवाद-कोषों की वृद्धि होती है। लेकिन, शरीर-शुद्धि में वृद्धि होने के साथ-साथ मवाद-कोष क्रमशः घटकर अंत में लुप्त हो जाते हैं। जिससे मूत्र साफ और हलका रहता है और गुर्दे की सफाई हो जाती है। 7. पाचन प्रणाली, ग्रंथि प्रणाली, रक्त-संचार प्रणाली, श्वास प्रणाली, नाभिमंडल आदि शरीर के सभी भागों को उपवास द्वारा आराम मिलता है। 8. पाचन क्रिया बढ़ती है और मोटापा दूर होता है। उपवास में मस्तिष्क अधिक सक्रिय हो जाता है और विचारशक्ति में स्फुरणा आ जाती है। 9. उपवास काल में लाल रक्त-कणों की वृद्धि होती है। 10. उपवास सहिष्णुता का महान प्रयोग है। उपवास-चिकित्सा पर पश्चिम में जितनी अच्छी पुस्तकें निकली हैं, शायद भारत में नहीं निकलीं। 11. उपवास से बहुत-सारी समस्याएं हल होती हैं। यदि यह प्रयोग की दृष्टि से किया जाए तो लाभप्रद है। 12. उपवास के द्वारा प्राण-शक्ति बहुत बढ़ती है। 13. डॉ. ज्होन कीथ वेंडो द्वारा लिखित एक पुस्तक—'स्टडी यंग रिड्यूस योर रेट ऑफ एजिंग'—में अपने वैज्ञानिक प्रयोगों की चर्चा करते हुए कहा—'उपवास वृद्धावस्था को रोकता है।' चूहों पर प्रयोग करके देखा गया, तो आश्चर्यजनक परिणाम सामने आए। 14. उपवास के दौरान शरीर का 'इम्यूनालोजिकल सिस्टम' शक्तिशाली होता है। इस तंत्र में काम करने वाले रक्त के श्वेत कणों, जिन्हें 'फेगो साइट्स' और 'लिम्फो साइट्स' कहा जाता है, से कार्यक्षमता में अद्भुत वृद्धि होती है। 'लिम्फो साइट्स' के दो प्रकारों—'बी सेल्स'—जो आगंतुक कीटाणु या विषाणुओं का प्रतिकार करते हैं तथा कार्यक्षमता में वृद्धि होने से शरीर में जमा होने वाले विजातीय तत्त्वों का शोधन संभव हो जाता है। इन विजातीय तत्त्वों के जमाव का परिणाम ही है—कोशिकाओं का वृद्ध होना, जो अंततोगत्वा मनुष्य को वृद्ध बना देती हैं। 15. उपवास द्वारा कैंसर जैसी खतरनाक कोशिकाओं की सफाई हो जाती है।

16. उपवास से आवेगों पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है। 17. उपवास से शरीर में जब बाह्य ईंधन (कार्बोहाईड्रेट्स) मिलना बंद हो जाता है, तो शरीर में संगृहीत पदार्थ अग्नि में जलने लगता है। इसलिए कहा गया है कि उपवास शरीर की भीतरी गंदगी का नाश कर देता है। 18. उपवास से शरीर में हलकापन, स्फूर्ति, उत्साह और निरोगता तथा शरीर की अंदरूनी सफाई का अनुभव होता है। 19. उपवास के समय शरीर में जमे पदार्थों का छीजन इस प्रकार होता है—प्रतिदिन एक पौंड शरीर का वजन कम होता है, जिसमें चर्बी 89 फीसद, जिगर 62 फीसद, तिल्ली 57 फीसद, मांसपेशियां 31 फीसद, मस्तिष्क या तंतु .0 फीसद। इस छीजन के कारण से कुछ कमजोरी तो आती है, किंतु मस्तिष्क बिल्कुल नहीं छीजता। इसलिए सोच-विचार की शक्ति बढ़ती है, नींद अच्छी आती है। विचार सात्त्विक होने लगते हैं। मन प्रसन्न रहता है। 20. कब्ज तथा कब्ज से होने वाले रोग उपवास से ठीक हो जाते हैं। 21. उपवास से शरीर में एकत्र मल का विनाश होता है। 22. उपवास द्वारा स्वयं की चिकित्सा की जा सकती है। इसमें कोई विस्मय करने की आवश्यकता नहीं है। डॉ. एडवर्ड हुकर डेवी ने 'द नोन ब्रेकफास्टिंग क्योर'—नाम की पुस्तक में लिखा है—बीमारी में जबरदस्ती खाने और दवाएं लेने की अपेक्षा उपवास अधिक लाभप्रद है। 23. शरीर में एकत्रित विजातीय जो कचरा इकट्ठा हो रहा है—वह उपवास करने से साफ हो जाता है। उपवास के प्रभाव से विजातीय तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा ने अपनी पुस्तक 'सरल प्राकृतिक चिकित्सा' में उपवास के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं। 24. डॉ. ज्होन कीथ वेंडो ने पुस्तक 'स्टडी यंग रिड्यूस योर रेट ऑफ एजिंग' में लिखा है—अगर अपनी उम्र लंबी चाहते हैं व स्वस्थ जीना चाहते हो तो उपवास व्यक्ति के लिए जरूरी है। 25. भोजन द्वारा काम केंद्र, वासना केंद्र, आवेग केंद्र और स्मृति केंद्र उत्तेजित हो जाते हैं। उपवास द्वारा उनको शांत किया जा सकता है। 26. उपवास से चैतन्य केंद्रों में आनंदानुभूति होती है। 27. प्रो. दूहरिट ने अपनी पुस्तक 'डाइट एंड हीलिंग सिस्टम' में लिखा है—उपवास काल में कमजोरी महसूस होती है, वह भोजन का अभाव नहीं है, अपितु शरीर में एकत्र मल का विनाश होना है। शरीर की शुद्धि हो जाने के बाद, शरीर में पुनः शक्ति आ जाती है। 28. जैन धर्म मूल में शरीरविज्ञान नहीं है। वह तो आत्मविज्ञान है। लुई हुक ने कहा है—स्वस्थ शरीर वही है जो आवेग-मुक्त हो। उपवास से आवेगों पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है। जिससे व्यक्ति संतुलन नहीं खो सकता। 29. दमा, बढ़ा हुआ रक्तचाप, बवासीर, एग्जिमा, मधुमेह— ये ऐसे रोग माने जाते हैं जिनका कोई निश्चित इलाज नहीं होता। ऐसे में उपवास और परहेज अपना चमत्कारपूर्ण असर दिखाता है। असाध्य मानी जाने वाली बीमारियां प्रायः उपवास या प्राकृतिक चिकित्सा से ठीक हो जाती हैं।

महापुरुषों ने कहा है उपवास, तपस्या आदि जैन धर्म का प्राण है, जैनाचार की जननी है। जैसे—**सर्वे पदा हस्ति पदे निमग्ना।**—हाथी के खोज में सब समा जाते हैं। वैसे ही तप के आचरण में मोक्ष के समस्त मार्ग समाहित हो जाते हैं। जैसे अणु शब्द विराट है, वैसे ही तप शब्द भी विराट है। एक परिभाषा में कहा—

**तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः**
**तप्यते अणेण पावं कम्मं किति तपः**

इच्छाओं का निरोध ही तप है—**इच्छानिरोध-स्तपः**। भारतीय दर्शनों में तपस्या को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वैदिक संहिताओं में प्रायः तापस के स्थान पर तैजस प्रयोग हुआ है। ब्रह्मा ने सृष्टि रचना की, उस का माध्यम तप था। तप के द्वारा उसने अपूर्व सामर्थ्य प्राप्त किया। तपस्या निष्काम होनी चाहिए। मुण्डकोपनिषद् में **तपस्या चीयते ब्रह्म** तथा तैत्तिरीय आरण्यक में कहा है—**तपो ब्रमेति**। मनुस्मृति में—**चद्दुरन्तरं यद् दुर्ग यच्च दुष्करम् सर्वत तपस्या साध्यं तपोहि दुरविक्रमः।**—इस प्रकार तपस्या से अनेक लाभ मिलते हैं। निर्जरा की दृष्टि से भी उपवास महत्त्वपूर्ण है और वैज्ञानिक दृष्टि से भी। पाचन प्रणाली, ग्रंथि प्रणाली, रक्त-संचार प्रणाली, नाभिमंडल आदि उपवास से संतुलित रहते हैं तथा अंतर्वृत्तियों का शोधन होता है, उनको आराम उपवास से मिलता है।

इसी तरह वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक शक्ति की साधना के लिए शरीर, इंद्रिय और मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है वे सभी तप कहे जाते हैं। आभ्यंतर तप में मानसिक क्रिया की प्रधानता है। बाह्य तप का आभ्यंतर तप की पुष्टि में उपयोगी होने से ही महत्त्व माना गया है।

शेष पृष्ठ 41 पर

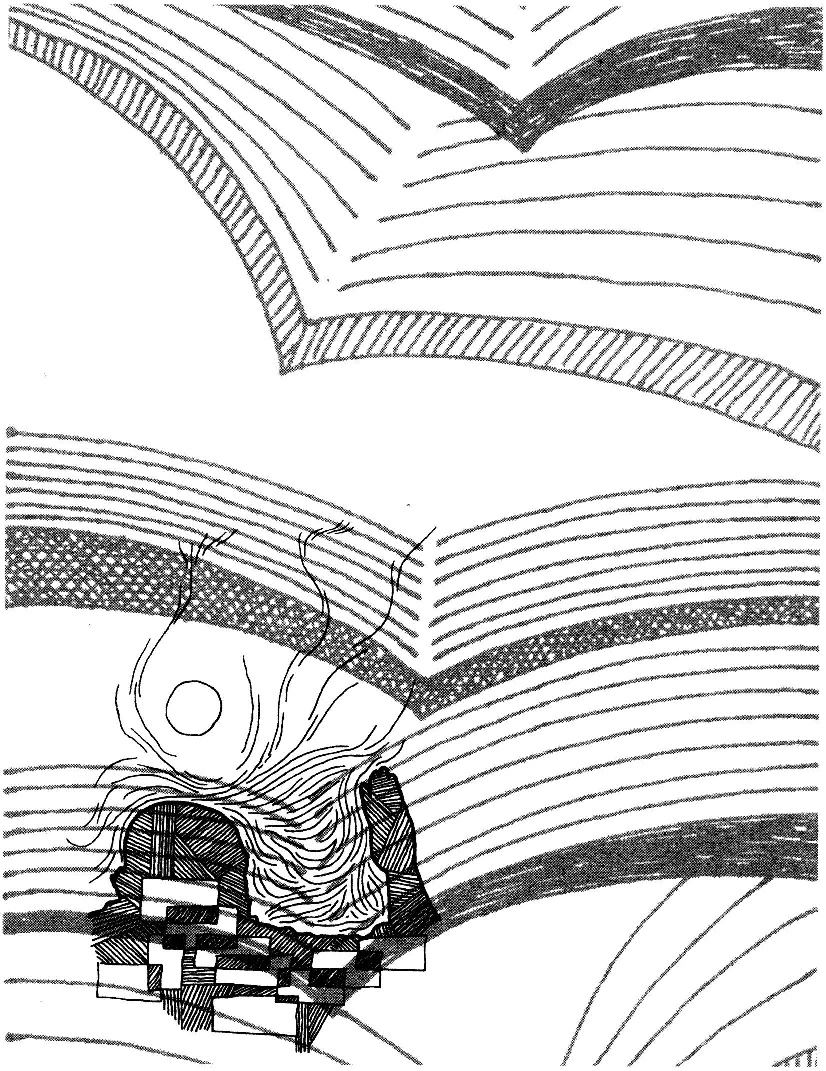

# अनुभूति

*धर्म की भाषा औपचारिक प्रार्थना और स्तोत्र नहीं, प्रत्युत, आत्मिक अनुभूति होती है और धर्म का दर्शन भी सनातन दर्शन है, जो तर्कों से अधिक अनुभूतियों पर आधारित होता है। बुद्धि का प्रत्येक क्षेत्र शंका का क्षेत्र है। बुद्धि का प्रत्येक तर्क स्वयं को काटने वाले किसी अन्य तर्क को जन्म देता है। किंतु, प्रत्येक मनुष्य को कहीं-न-कहीं पहुंचकर अपने-आप का विश्वास करना ही पड़ता है। हम जब भी ऊंची मानसिक स्थिति में होते हैं, हमें लगता है, मानो हम अपने-आप से किसी बड़ी सत्ता के संपर्क में आ गए हों और मानो यह सत्ता ही सबसे बड़ी वास्तविकता हो।*

**—रामधारीसिंह दिनकर**

तीसरी और अंतिम किस्त

# अहिंसा का मार्ग

❁ महात्मा गांधी

सत्याग्रह एक ऐसी तलवार है जिसके दोनों ओर धार है। उसे दोनों ओर से काम में लिया जा सकता है। जो उसे चलाता है, वह भी सुखी होता है और जिस पर वह चलाई जाती है, वह भी सुखी होता है। वह खून की एक भी बूंद नहीं गिराती, फिर भी उससे कहीं बड़ा, दूर तक पहुंचने वाला नतीजा ला सकती है। उसे कभी जंग नहीं लग सकता और न उसे कोई चुरा कर ही ले जा सकता।

कानून-भंग सविनय तभी क़हा जाएगा जब वह प्रामाणिक हो, आदरपूर्ण हो, संयत हो, कभी उद्धत न बने, किसी भलीभांति समझे हुए सिद्धांत पर आधार रखने वाला हो, उचित कारणों से किया गया हो और सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त तो यह है कि उसके पीछे कोई दुर्भावना या घृणा का भाव न हो।

*जीवन एक महत्त्वाकांक्षा है। उसका ध्येय पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करना है—यह पूर्णता ही आत्म-साक्षात्कार है। हमारी कमजोरियों और अपूर्णताओं के कारण इस ध्येय को नीचा नहीं करना चाहिए।....जो मनुष्य अहिंसा के साथ, प्रेम के कानून के साथ अपने भाग्य को जोड़ देता है, वह प्रतिदिन विनाश के घेरे को छोटा बनाता है और उस हद तक जीवन और प्रेम का विकास करता है। जो हिंसा में, घृणा के कानून में विश्वास रखता है—वह प्रतिदिन विनाश के घेरे को बढ़ाता है और उस हद तक मृत्यु और घृणा का विस्तार करता है।*

ईसा मसीह, डेनियल और सॉक्रेटीस सत्याग्रह या आत्मबल के शुद्धतम उदाहरण थे। ये सब शिक्षक अपनी आत्मा की तुलना में अपने शरीर को जरा भी महत्त्व नहीं देते थे। टॉल्स्टॉय इस सिद्धांत के सर्वोच्च और उज्ज्वलतम (आधुनिक) भाष्यकार थे। उन्होंने इस सिद्धांत को केवल समझाया ही नहीं, बल्कि इसके अनुसार अपना जीवन भी बिताया। यूरोप में यह सिद्धांत लोकप्रिय बना, उससे बहुत पहले ही भारत के लोग इसे समझ गए थे और इसके अनुसार सामान्यतः आचरण भी करते थे। यह समझना आसान है कि शरीर-बल से आत्मबल अनंत गुना श्रेष्ठ है। अगर लोग अन्याय और अत्याचार को दूर करने के लिए आत्मबल का सहारा लें, तो आज का बहुत-सा दुख-दर्द टल जाए।

बुद्ध ने निर्भयता से शत्रु की छावनी में ही युद्ध किया और अहंकारी पुरोहितों को पराज़ित कर दिया। ईसा ने जेरूसलेम के मंदिर से पैसे के लोभियों को निकाल बाहर किया और ढोंगियों तथा फैरिसियों पर स्वर्ग के अभिशाप बरसाए। बुद्ध और ईसा, दोनों तीव्र सक्रिय लड़ाई में विश्वास करते थे। लेकिन, पुरोहितों और फैरिसियों को दंड देते समय भी बुद्ध और ईसा के हर कार्य के पीछे करुणा और प्रेम के दर्शन होते थे। अपने शत्रुओं के खिलाफ एक उंगली भी उठाना वे पसंद नहीं करते थे। इसके विपरीत, वे खुशी-खुशी अपना बलिदान देने को तैयार रहते थे, परंतु उस सत्य का बलिदान देना कभी पसंद नहीं करते थे, जिसके

लिए वे जीते थे। अगर बुद्ध के प्रेम का प्रताप पुरोहितों को झुकाने में सफल न होता, तो वे पुरोहितों का विरोध करते-करते मर जाना पसंद करते। ईसा एक संपूर्ण साम्राज्य का विरोध करते हुए कांटों का ताज पहन कर सूली पर चढ़े और उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी। जब मैं विदेशी सरकार का अहिंसक विरोध करता हूं तब मैं नम्र भाव से केवल उन महान शिक्षकों के कदमों पर ही चलता हूं।

सत्याग्रह का नियम है कि जब मनुष्य के पास और कोई साधन न रहे और उसकी बुद्धि हार कर बैठ जाए, तब वह अपने शरीर को त्याग देने का अंतिम कदम उठाए।

अहिंसा आत्मा का बल है और आत्मा अनश्वर है, अपरिवर्तनशील है और शाश्वत है। अणुबम भौतिक शक्ति का सबसे बड़ा रूप है और इस रूप में वह नाश, अधोगति और मृत्यु के उस कानून के अधीन है, जो भौतिक जगत पर शासन करता है। हमारे धर्मशास्त्र इस बात के प्रमाण हैं कि जब आत्मबल पूर्ण रूप से जाग्रत हो जाता है तब वह अजेय और अदम्य बन जाता है। लेकिन, उसकी पूर्ण जाग्रति की कसौटी और शर्त यह है कि वह हमारी रग-रग में व्याप्त हो जाना चाहिए और हमारे हर श्वास से प्रकट होना चाहिए। लेकिन, किसी भी संस्था को जबरन अहिंसक नहीं बनाया जा सकता। अहिंसा और सत्य को विधान में नहीं लिखा जा सकता। उन्हें स्वेच्छा से अपनाना होता है। वे हमारे जीवन के स्वाभाविक अंग बन जाने चाहिए। वरना दोनों परस्पर-विरोधी बन जाते हैं।

जीवन एक महत्त्वाकांक्षा है। उसका ध्येय पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करना है—यह पूर्णता ही आत्म-साक्षात्कार है। हमारी कमजोरियों और अपूर्णताओं के कारण इस ध्येय को नीचा नहीं करना चाहिए।....जो मनुष्य अहिंसा के साथ, प्रेम के कानून के साथ अपने भाग्य को जोड़ देता है, वह प्रतिदिन विनाश के घेरे को छोटा बनाता है और उस हद तक जीवन और प्रेम का विकास करता है। जो हिंसा में, घृणा के कानून में विश्वास रखता है—वह प्रतिदिन विनाश के घेरे को बढ़ाता है और उस हद तक मृत्यु और घृणा का विस्तार करता है।

जीवन में हिंसा से पूरी तरह बचना असंभव है। तब प्रश्न यह उठता है कि हिंसा और अहिंसा के क्षेत्रों को बांटने वाली लकीर कहां खींची जाए? हर आदमी के लिए यह लकीर एक ही नहीं हो सकती। क्योंकि, यद्यपि मूल सिद्धांत एक ही है, फिर भी हर स्त्री या हर पुरुष उसका अपने ढंग से उपयोग करता है। जो एक आदमी के लिए भोजन है, वही दूसरे के लिए जहर साबित हो सकता है। मांसाहार मेरे लिए पाप है। फिर भी दूसरे आदमी के लिए, जिसका निर्वाह सदा मांस से ही हुआ है और जिसने मांस खाने में कभी कोई बुराई नहीं मानी, केवल मेरी नकल करने के खातिर मांसाहार छोड़ना पाप होगा।

अगर मैं काश्तकार बनना चाहूं और जंगल में रहूं, तो अपने खेतों की रक्षा के लिए मुझे कम-से-कम अनिवार्य हिंसा करनी ही होगी। जो बंदर, पक्षी और कीड़े मेरी फसलों को खाएंगे, उनकी हत्या मुझे करनी होगी। अगर मैं खुद उन्हें मारना न चाहूं, तो इसके लिए मुझे किसी दूसरे आदमी को रखना होगा। इन दो स्थितियों में बहुत फर्क नहीं है। जब देश में अकाल पड़ा हो तब अहिंसा के नाम पर जानवरों को फसलें खाने देना पाप होगा। बुरा और अच्छा—ये सापेक्ष शब्द हैं। एक प्रकार की परिस्थिति में जो अच्छा है, वही दूसरे प्रकार की परिस्थिति में बुरा या पाप हो सकता है।

मनुष्य को शास्त्रों के कुएं में डूब नहीं मरना है, परंतु उसे शास्त्रों के विशाल महासागर में गोते लगाना है और उसमें से मोती खोज निकालना है। हर कदम पर उसे विवेक का उपयोग करके यह जानना होगा कि अहिंसा क्या है और हिंसा क्या है। इसमें लज्जा या कायरता के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। गुजराती कवि प्रीतम ने गाया है : **हरि नो मारग छे शूरानो, नहीं कायरनुं काम जोने**—ईश्वर के पास पहुंचाने वाला मार्ग बहादुरों का मार्ग है, न कि कायरों का।

किसी को पसंद न आने वाले वचन कहने या लिखने में, खास करके जब कोई वक्ता या लेखक उन्हें सच्चा मानता हो, निश्चित ही हिंसा नहीं है। हिंसा की मूल शर्त है विचार, वाणी या कार्य के पीछे हिंसक हेतु होना—अर्थात् विरोधी को चोट पहुंचाने का इरादा होना। औचित्य के झूठे विचारों के कारण या दूसरे के हृदय को पीड़ा पहुंचने के भय के कारण बहुत बार लोग मन की सच्ची बात कहने में हिचकिचाते हैं और अंत में दंभ में फंस जाते हैं, लेकिन अगर व्यक्तियों, समाजों या राष्ट्रों में विचार की अहिंसा का विकास करना हो तो सत्य बात

कहनी ही चाहिए—भले क्षण-भर के लिए वह कितनी ही कठोर या कड़वी क्यों न लगे।

इस दुनिया में सीधी कार्रवाई के बिना कोई काम नहीं हुआ है। मैं 'पैसिव रेजिस्टेन्स'—निष्क्रिय विरोध—शब्द-प्रयोग को इसलिए स्वीकार नहीं करता कि वह सत्याग्रह की भावना को प्रकट करने में अपर्याप्त है और उसका अर्थ निर्बल का हथियार किया जाता है। अहिंसा प्रहार करने की क्षमता को पहले से मानकर चलती है। यह हमारी बदला लेने की वृत्ति पर जाग्रत रहकर तथा जान-बूझकर लगाया हुआ अंकुश है। परंतु निष्क्रिय होकर, असहाय बनकर, आत्म-समर्पण करने से तो बदला लेना कहीं ज्यादा अच्छा है। अलबत्ता क्षमा उससे भी बड़ी चीज है। बदले की भावना एक कमजोरी है। बदला लेने की इच्छा वास्तविक या काल्पनिक हानि के भय से उत्पन्न होती है। जब कुत्ता डरता है, तभी वह भौंकता और काटता है। ऐसे आदमी को, जिसे संसार में किसी से भय नहीं है, उस आदमी पर क्रोध करना भी एक झंझट ही मालूम होगा, जो उसे हानि पहुंचाने की विफल चेष्टा कर रहा हो।

अहिंसा और कायरता कभी साथ नहीं चलतीं। मैं पूरी तरह शस्त्र-सज्जित मनुष्य के हृदय से कायर होने की कल्पना कर सकता हूं। हथियार रखना कायरता नहीं तो डर का होना तो प्रकट करता ही है, परंतु सच्ची अहिंसा शुद्ध निर्भयता के बिना असंभव है। मेरा अहिंसा-धर्म एक अत्यंत सक्रिय शक्ति है। उसमें कायरता अथवा निर्बलता को कोई स्थान नहीं है। एक हिंसक मनुष्य के बारे में तो किसी दिन अहिंसक बनने की आशा रखी जा सकती है, परंतु कायर मनुष्य के बारे में ऐसी आशा कभी नहीं रखी जा सकती। इसलिए मैंने अनेक बार यह कहा है कि अगर हम अपने-आप को, अपनी स्त्रियों को और अपने पूजा स्थानों को कष्ट-सहन की अर्थात् अहिंसा की शक्ति से बचाना नहीं जानते, तो कम-से-कम लड़कर तो—यदि हम वास्तव में पुरुष हैं—इन सबको बचाने का सामर्थ्य हममें होना ही चाहिए।

बेतिया के पास के एक गांव के लोगों ने मुझसे कहा कि जब पुलिस के जवान उनके घरों को लूट रहे थे और उनकी स्त्रियों को सता रहे थे, तब वे वहां से भाग गए थे। जब उन्होंने मुझसे यह कहा कि आपने हमें अहिंसक बना रहने को कहा था—इसीलिए हम भाग गए थे, तब मेरा सिर शरम से झुक गया। मैंने उन्हें इस बात का विश्वास कराया कि मेरी अहिंसा का ऐसा अर्थ नहीं है। मैंने तो उनसे यह आशा रखी थी कि वे अपने आश्रितों को हानि पहुंचाने के काम में लगी हुई बड़ी से बड़ी सत्ता को भी ऐसा करने से रोकेंगे और बदला लिए बिना मृत्यु तक का खतरा उठाने को भी तैयार रहेंगे, लेकिन तूफान के केंद्र को छोड़कर भागेंगे नहीं। अपनी संपत्ति, सम्मान या धर्म को हथियारों की मदद से बचाने में काफी बहादुरी और जवांमर्दी है। अन्यायी को चोट पहुंचाने की इच्छा रखे बिना इन सबकी रक्षा करने में अधिक बहादुरी या अधिक उदात्तता है। लेकिन, अपनी रक्षा के लिए कर्तव्य का स्थान छोड़कर संपत्ति, सम्मान या धर्म को अन्यायी की दया पर छोड़ने में कायरता है, अस्वाभाविकता है और सम्मान का भंग है। जो लोग मरने की कला जानते हैं उन लोगों तक मैं अहिंसा का अपना संदेश पहुंचा सकता हूं, किंतु मृत्यु से डरने वालों तक यह संदेश पहुंचाने का मुझे कोई रास्ता नहीं मिलता।

एक संपूर्ण जाति को निर्बल और नपुंसक बनाने की अपेक्षा मैं हिंसा का खतरा उठाना हजार बार पसंद करूंगा। मेरे अहिंसा धर्म में खतरे के वक्त में अपने प्रियजनों को मुसीबत में छोड़कर भाग खड़े होने के लिए जगह नहीं है। मारना या कायरता से भाग खड़ा होना—इनमें से मुझे यदि किसी एक बात को पसंद करना पड़े, तो मेरा उसूल कहता है कि मारने का—हिंसा का—रास्ता पसंद करो। क्योंकि, अगर मैं अंधे को कुदरत की शोभा देखना सिखा सकूं, तो ही नामर्द को अहिंसा धर्म सिखा सकूंगा। अहिंसा बहादुरी की चरम सीमा है। और मेरा अनुभव है कि हिंसा के मार्ग से तालीम पाने वालों के सामने अहिंसा की श्रेष्ठता साबित करने में मुझे कठिनाई नहीं हुई। पहले जब मैं खुद डरपोक था, तब मैं भी हिंसा के भाव रखता था। लेकिन, ज्यों-ज्यों मेरा डरपोकपन दूर होने लगा, त्यों-त्यों मैं अहिंसा की कीमत समझने लगा।

जो आदमी मरने से डरता है और जिसमें सामना करने की ताकत नहीं है, उसे अहिंसा का पाठ कभी नहीं सिखाया जा सकता। असहाय चूहे को अहिंसक नहीं कह सकते, क्योंकि वह तो सदा ही बिल्ली के मुंह का ग्रास बना रहता है। अगर उसमें ताकत होती तो वह हत्यारी बिल्ली को जरूर खा जाता। परंतु वह तो बिल्ली को देखकर हमेशा बिल में छिपने को भागता है। हम उसे

कायर नहीं कहते, क्योंकि प्रकृति ने उसका स्वभाव ही ऐसा बनाया है। लेकिन, जो मनुष्य खतरे के सामने चूहे के जैसा बरताव करता है—उसे कायर कहा जाए तो ठीक ही है। उसके हृदय में हिंसा और द्वेष भरा होता है। अपने को चोट पहुंचाए बिना अगर वह शत्रु को मार सके तो मारना भी चाहता है। ऐसा मनुष्य अहिंसा से सैकड़ों मील दूर है। उसे अहिंसा का उपदेश देना बिल्कुल बेकार है। वीरता लेशमात्र भी उसके स्वभाव में नहीं होती। अहिंसा को समझ सकने के पहले उसे यह सिखाना होगा कि आक्रमण करने वाले पहाड़-जैसे मनुष्य के सामने भी छाती खोलकर डटे रहना चाहिए और आक्रमणकारी से अपनी रक्षा करने में मौत की भी परवाह नहीं करनी चाहिए। दूसरा कुछ करने से उसकी कायरता और भी दृढ़ हो जाएगी; अहिंसा से वह और दूर जा पड़ेगा। यह सच है कि मैं किसी को बदला लेने में मदद नहीं करूंगा, लेकिन ऐसी अहिंसा की आड़ में जो अपनी कायरता को छिपाना चाहता है, उसे मैं ऐसा नहीं करने दूंगा। अहिंसा शूरों का मार्ग है, इसे न जानने से बहुतों का यह सच्चा विश्वास रहा है कि जब कोई खतरा आए—खास करके जिसमें जान जाने का खतरा हो—तब खतरे का सामना करने के बजाए हर बार पीठ दिखाकर भाग जाना सद्गुण है। अहिंसा के एक शिक्षक के नाते मुझे यथासंभव ऐसी नामर्दी के विचार से लोगों को सावधान कर देना चाहिए।

कोई मनुष्य शरीर से कितना ही कमजोर क्यों न हो, लेकिन यदि भागना लज्जा की बात हो तो वह विरोधी की शक्ति के सामने झुकेगा नहीं और अपनी जगह पर अडिग रहकर प्राण निछावर कर देगा। यह अहिंसा और वीरता होगी। भले वह कितना ही कमजोर क्यों न हो, परंतु अपने शत्रु को चोट पहुंचाने में वह अपनी सारी शक्ति लगा देगा और इस प्रयत्न में जान दे देगा। यह वीरता है, लेकिन अहिंसा नहीं है। जब उसका कर्तव्य खतरे का सामना करना हो तब ऐसा न करके यदि वह भाग जाए तो वह उसकी कायरता होगी। पहले उदाहरण में मनुष्य में प्रेम या करुणा होगी, दूसरे में अरुचि या अविश्वास होगा और तीसरे में डर होगा।

मान लीजिए कि मैं एक हबशी हूं और एक गोरा मेरी बहिन पर बलात्कार करता है या गोरों का सारा समाज मनमाने ढंग से उसकी हत्या कर देता है—तब मेरा क्या कर्तव्य होगा?—मैं अपने से पूछता हूं। मुझे यह उत्तर सूझता है : मुझे उन लोगों का बुरा नहीं चाहना चाहिए, लेकिन उनके साथ सहयोग भी नहीं करना चाहिए। यह हो सकता है कि मैं सामान्यतः अपनी जीविका के लिए इस हत्यारे गोरे समाज पर निर्भर करूं। फिर भी मैं उसके साथ सहयोग करने से इनकार करता हूं, जो भोजन उससे मिलता है, उसे छूने से भी मैं इनकार करता हूं और अपने उन हबशी भाइयों के साथ भी सहयोग करने से मैं इनकार करता हूं—जो गोरों के अन्याय और अत्याचार को सहन करते हैं। इसे मैं आत्म-बलिदान कहता हूं। मैंने अपने जीवन में इस योजना का सहारा लिया है। बेशक, अनशन की केवल यांत्रिक प्रक्रिया से कोई लाभ नहीं होगा। प्रतिक्षण जीवन क्षीण होता जाए तो भी हमारी आत्म-बलिदान की श्रद्धा मंद नहीं पड़नी चाहिए। लेकिन, मैं अहिंसा-धर्म का पालन करने वाला एक बहुत ही सामान्य व्यक्ति हूं। मेरा यह उत्तर आपको विश्वास करने लायक शायद न लगे। लेकिन, मैं इस दिशा में तीव्र प्रयत्न कर रहा हूं; और अगर मैं इस जीवन में पूरी तरह अपने प्रयत्न में सफल न हुआ, तो भी मेरी यह श्रद्धा कम नहीं होगी।

पशुबल के शासन के इस युग में किसी के लिए यह विश्वास करना लगभग असंभव है कि कोई व्यक्ति पशुबल की अंतिम सत्ता के कानून से इनकार कर सकता है। इसलिए मेरे पास बिना नाम के ऐसे पत्र आते हैं जिनमें मुझे यह सलाह दी जाती है कि प्रजा में हिंसा, फूट पड़े, तो भी मुझे असहयोग आंदोलन की प्रगति में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। दूसरे लोग मेरे पास आते हैं और यह मान कर कि मैं गुप्त रूप में हिंसक कार्रवाई करने का षड्यंत्र रच रहा हूंगा, मुझसे पूछते हैं कि खुली हिंसा की घोषणा करने का सुखद समय कब आएगा? वे मुझे इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि अंग्रेज छिपी या खुली हिंसा के सिवा और किसी उपाय से कभी हार मानने वाले नहीं है। मुझसे कहा जाता है कि दूसरे कुछ लोग ऐसा विश्वास रखते हैं कि मैं हिंदुस्तान का सबसे दुष्ट आदमी हूं, क्योंकि मैं कभी अपना सच्चा इरादा नहीं बताता, और उन्हें इस विषय में जरा भी शंका नहीं कि देश के अधिकतर लोगों की तरह ही मैं भी हिंसा में विश्वास करता हूं।

मानव-जाति के एक बहुत बड़े भाग पर तलवार के सिद्धांत का ऐसा अधिकार होने के कारण और चूंकि असहयोग आंदोलन की सफलता, उसे मुलतवी रखने के

अरसे में, मुख्यतः हिंसा के अभाव पर निर्भर करती है और चूंकि इस विषय में मेरे विचार लोगों की बड़ी संख्या के व्यवहार पर असर डालते हैं, मैं अपने विचारों को अधिक-से-अधिक साफ शब्दों में व्यक्त करने के लिए उत्सुक हूं।

मैं यह जरूर मानता हूं कि जब कायरता और हिंसा के बीच ही चुनाव करना हो तो मैं हिंसा की सलाह दूंगा। इस तरह जब मेरे सबसे बड़े लड़के ने मुझसे पूछा कि जब मुझ पर 1908 में घातक आक्रमण हुआ उस समय अगर वह हाजिर होता तो उसे क्या करना चाहिए था—क्या उसे आक्रमण के स्थान से भाग जाना और मुझे मरने देना चाहिए था, या उसे यथाशक्ति शारीरिक बल का उपयोग करके मेरी रक्षा करनी चाहिए थी—तब मैंने उससे कहा कि हिंसा का उपयोग करके भी उसे मेरी रक्षा करनी चाहिए थी। इसी कारण से मैंने बोअर-युद्ध में, तथाकथित जूलू-विद्रोह में और पिछले महायुद्ध में भाग लिया था। और यही कारण है कि मैं उन लोगों को हथियारों की तालीम देने की हिमायत करता हूं, जो हिंसा की पद्धति में विश्वास रखते हैं। हिंदुस्तान कायर या लाचार बनकर विदेशी शासकों द्वारा होने वाले अपने अपमान और तिरस्कार को देखता रहे, इसकी अपेक्षा मैं चाहूंगा कि वह अपने सम्मान की रक्षा के लिए हथियारों का सहारा ले।

लेकिन, मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से अनंत गुनी श्रेष्ठ है। दंड की अपेक्षा क्षमा में अधिक वीरता है। क्षमा योद्धा का, वीर का भूषण है। लेकिन, दंड का त्याग तभी क्षमा का रूप लेता है—जब मनुष्य में दंड देने की शक्ति या सत्ता होती है। जब कोई लाचार या असहाय प्राणी दंड का त्याग करता है, तब वह निरर्थक बन जाता है। जब कोई चूहा बिल्ली को अपने टुकड़े करने देता है, तब वह शायद ही बिल्ली को क्षमा करता है। इसलिए मैं उन लोगों की भावना को समझता हूं, जो जनरल डायर और उसके जैसे दूसरों को समुचित सजा देने की जोरदार आवाज उठाते हैं। अगर उनमें शक्ति होती तो वे जनरल डायर के टुकड़े-टुकड़े कर देते। लेकिन, मैं हिंदुस्तान को लाचार और असहाय नहीं मानता। मैं केवल हिंदुस्तान की और मेरी अपनी ताकत का अधिक अच्छे हेतु के लिए उपयोग करना चाहता हूं।

मुझे कोई गलत न समझें। शक्ति शारीरिक क्षमता से नहीं आती। वह तो अदम्य इच्छा से पैदा होती है। एक औसत जूलू किसी औसत अंग्रेज से हर हालत में अधिक जिस्मानी ताकत रखता है। लेकिन, वह किसी अंग्रेज लड़के को देखकर भाग खड़ा होता है, क्योंकि वह अंग्रेज लड़के की पिस्तौल से या उसके खातिर पिस्तौल का उपयोग करने वालों से डरता है। अपने कद्दावर शरीर के बावजूद जूलू मौत से डरता है और हिम्मत हार जाता है। हम हिंदुस्तानी एक क्षण में यह समझ सकते हैं कि एक लाख अंग्रेजों से तीस करोड़ भारतीयों को डरने का कोई कारण नहीं है। इसलिए निश्चित क्षमा का अर्थ होगा अपनी शक्ति को निश्चित रूप से पहचानना। ज्ञानपूर्वक दी जाने वाली क्षमा के साथ हममें शक्ति की एक ऐसी प्रचंड लहर दौड़ जानी चाहिए, जो किसी डायर या फ्रेंक जॉन्सन के लिए भारत के सपूतों के अपमान को असंभव बना दे। अगर फिलहाल मैं अपनी बात आपको न समझा सकूं, तो उसकी मुझे कोई चिंता नहीं है। हम लोग अपने को इतने ज्यादा दलित और पीड़ित अनुभव करते हैं कि हम क्रोधित हुए बिना या अपमान का बदला लिए बिना रह नहीं सकते। लेकिन, मुझे यह कहने में संकोच नहीं करना चाहिए कि दंड का अधिकार त्यागने से हिंदुस्तान को अधिक लाभ होगा। हमें इससे अधिक ऊंचा कार्य करना है, जगत को अधिक उदात्त संदेश देना है।

मैं खयाली-पुलाव पकाने वाला आदमी नहीं हूं। मैं व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हूं। अहिंसा का धर्म केवल ऋषियों और संतों के लिए ही नहीं है। सामान्य लोगों को भी उस धर्म का पालन करना चाहिए। अहिंसा वैसे ही हमारी मानव-जाति का कानून है, जैसे हिंसा पशुओं का कानून है। पशु में आत्मा सुप्त अवस्था में रहती है और वह शारीरिक शक्ति के कानून के सिवा दूसरा कोई कानून नहीं जानता। मनुष्य की प्रतिष्ठा का यह तकाजा है कि वह उच्चतर और उदात्त कानून का पालन करे—आत्मा की शक्ति का कहना माने।

इसलिए मैंने हिंदुस्तान के सामने आत्म-बलिदान का प्राचीन कानून रखने का साहस किया है। क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखाएं—असहयोग और सविनय प्रतिरोध—कष्ट-सहन के कानून के नए नामों के सिवा और कुछ नहीं हैं। जिन ऋषियों ने हिंसा के बीच अहिंसा के कानून की शोध की, वे न्यूटन की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और प्रतिभाशाली थे। वे स्वयं वेलिंग्टन से अधिक बड़े योद्धा थे। वे हथियारों का उपयोग स्वयं जानते थे, इसलिए

उन्होंने हथियारों की व्यर्थता को समझ लिया और हथियारों के उपयोग से थकी हुई दुनिया को सिखाया कि उसका उद्धार हिंसा से नहीं, बल्कि अहिंसा से ही होगा।

अपने सक्रिय रूप में अहिंसा का अर्थ होता है जाग्रत रहकर कष्ट सहन करना। इसका अर्थ दुष्ट मनुष्य की इच्छा के सामने चुपचाप झुक जाना नहीं है, बल्कि इसका अर्थ अत्याचारी की इच्छा के खिलाफ अपनी संपूर्ण आत्मा की शक्ति को लगा देना है। हमारे जीवन के इस कानून के अधीन काम करते हुए अकेला व्यक्ति भी अपने सम्मान, अपने धर्म और अपनी आत्मा की रक्षा के लिए किसी अन्यायी साम्राज्य की संपूर्ण शक्ति का विरोध कर सकता है और उस साम्राज्य के पतन अथवा पुनरुत्थान की नींव डाल सकता है।

इस तरह मैं भारत के लिए अहिंसा के पालन की इसलिए हिमायत नहीं करता कि वह कमजोर है। मैं चाहता हूं कि भारत अपनी ताकत और शक्ति का भान रखते हुए अहिंसा का पालन करे। अपनी शक्ति का अनुभव करने के लिए उसे हथियारों की तालीम लेने की जरूरत नहीं है। हमें उसकी जरूरत इसलिए मालूम होती है कि हम यह सोचते हैं कि हमारा अस्तित्व केवल इस पार्थिव शरीर में ही समाया हुआ है। परंतु मैं यह दिखाना चाहता हूं कि भारत के पास ऐसी आत्मा है, जो कभी नष्ट नहीं हो सकती, जो हर प्रकार की शारीरिक निर्बलता से सफलतापूर्वक ऊपर उठ सकती है और सारे जगत की भौतिक शक्ति को चुनौती दे सकती है।....अगर भारत तलवार के सिद्धांत को अपना ले, तो संभव है वह क्षणिक विजय प्राप्त कर ले। लेकिन, तब भारत मेरे हृदय का गौरव नहीं रह जाएगा। हिंदुस्तान की भक्ति मैं इसलिए करता हूं कि मेरे पास जो-कुछ भी है, वह सब उसका दिया हुआ है। मुझे पूरा विश्वास है कि हिंदुस्तान के पास संसार के लिए एक मिशन—एक संदेश है। उसे यूरोप का अंधानुकरण नहीं करना है। हिंदुस्तान जब तलवार के सिद्धांत को स्वीकार करेगा, तब वह मेरे लिए कड़ी कसौटी की घड़ी होगी। मेरा धर्म भौगोलिक सीमाओं से बंधा हुआ नहीं है। अगर उस धर्म में मेरी जीवित श्रद्धा होगी, तो वह हिंदुस्तान के मेरे प्रेम से आगे बढ़कर अन्य देशों तक फैल जाएगा। अहिंसा-धर्म के पालन के द्वारा—जिसे मैं हिंदू धर्म की जड़ मानता हूं—मेरा जीवन हिंदुस्तान की सेवा में समर्पित है।

जब तक मैं अपने विरोधियों को अपने मत का न बना लूं, या अपनी हार स्वीकार न करूं, तब तक मुझे दलील करते ही रहना चाहिए। क्योंकि मेरा ध्येय प्रत्येक भारतीय को, यहां तक कि अंग्रेजों को भी और सारी दुनिया को अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए राजी करना है, ताकि वे अपने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक या धार्मिक संबंधों का अहिंसा की पद्धति से नियमन कर सकें। अगर मुझ पर अतिशय महत्त्वाकांक्षी होने का आरोप लगाया जाए, तो मुझे यह आरोप स्वीकार करना चाहिए। अगर मुझसे कहा जाए कि मेरा यह सपना कभी सिद्ध नहीं हो सकता, तो मेरा जवाब होगा—'ऐसा हो सकता है' और मैं अपने रास्ते पर आगे बढ़ता रहूंगा। मैं अहिंसा का एक कसा हुआ अनुभवी सिपाही हूं, और अहिंसा में अपनी श्रद्धा को अचल बनाए रखने के लिए मेरे पास पर्याप्त प्रमाण हैं। अतः मेरा एक साथी हो, अधिक हों या कोई भी मेरे साथ न हो, तो भी मुझे अपना अहिंसा का प्रयोग जारी ही रखना चाहिए।

कुछ अमेरिकन मित्र कहते हैं कि अणुबम से ही अहिंसा सिद्ध होगी, और किसी प्रकार से नहीं। शायद वे यह कहना चाहते हैं कि जिस तरह ठूंस-ठूंस कर मिठाइयां खाने से आदमी का मन मिठाई से ऊब जाता है, उसे मतली होने लगती है, उसी तरह अणुबम की तबाही को देखकर दुनिया के दिल में हिंसा के लिए नफरत पैदा हो जाएगी। मगर वह थोड़े दिनों के लिए होगी। जैसे ऊब मिटते ही आदमी फिर दूने उत्साह से मिठाइयां खाने बैठ जाता है, उसी तरह अणुबम की तबाही से पैदा होने वाले तिरस्कार का असर दूर होते ही दुनिया दूनी गति से हिंसा की ओर दौड़ेगी।.

अकसर कई बार बुराई में भलाई निकलती है। पर, वह ईश्वर की योजना है—मनुष्य की नहीं। मनुष्य का तो यही अनुभव है कि भलाई का नतीजा भला और बुराई का बुरा होता है।....अणुबम की इस अत्यंत करुण कहानी से हमें पाठ तो यह सीखना है कि जिस तरह हिंसा से हिंसा को नहीं मिटाया जा सकता, उसी तरह एक बम को दूसरे बम से नहीं मिटाया जा सकता। मनुष्य-जाति अहिंसा के मारफत ही हिंसा के गड्ढे में से निकल सकती है। घृणा को सिर्फ प्रेम से जीता जा सकता है। घृणा के सामने घृणा दिखाने से वह और भी फैलती और गहरी होती है।

शेष पृष्ठ 34 पर

# यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः

साध्वी कनकश्री

*जब किसी कक्ष की खिड़कियां बंद होती हैं तो घुटन का अनुभव होता है। प्रकाश की एक भी किरण वहां नहीं उतर सकती। आज मनुष्य ने चारों ओर दीवारें खड़ी कर ली हैं। कहीं भाषा की दीवार तो कहीं जाति की, कहीं प्रांतीयता की दीवार तो कहीं राष्ट्रीयता की, कहीं मजहब की दीवार तो कहीं मान्यता की। सब अपने-अपने दायरों में कैद हैं। दीवार से परे झांकने की क्षमता भी नष्ट हो चुकी है। जैसे अपराध करने वाले कैदी का बाहर की दुनिया से संबंध कट जाता है, वैसे ही धार्मिक कट्टरपंथी चारों ओर फैले सत्य के प्रकाश से आंखें मूंद लेते हैं।*

*प्रत्येक धर्म का उद्देश्य है—पशुता पर नियंत्रण और दिव्यता का विकास। धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक सिद्धांतों का निर्माण इसी पवित्र दृष्टि से हो सकता है। धर्म की आराधना का उद्देश्य होना चाहिए—विचारों की उत्कृष्टता, भावनाओं की पवित्रता एवं आचरण की श्रेष्ठता।*

संयुक्त राज्य अमेरिका का नया संविधान बना। उस पर हस्ताक्षर करने वालों में एक थे—चार्ल्स करोल। वे अपनी कोटि के अलग ही व्यक्ति थे। जीवन-भर केथोलिक परंपरा के अनुयायी रहे। उन्होंने अपने अंतिम समय में एक मार्मिक वक्तव्य दिया। उसकी कुछ पंक्तियां विशेष मननीय हैं। वे लिखते हैं—'मैं अपनी उम्र के 96 वर्ष पूरे कर रहा हूं। मैं सदा स्वस्थ रहा, आज भी स्वस्थ हूं। मुझे धन-दौलत तथा दुनिया की हर सुख-सुविधा मिली। समाज में भरपूर आदर-सत्कार और सुयश मिला। लेकिन, एक चीज ऐसी है, जिस पर मुझे इन सबके मुकाबले अधिक संतोष है। वह यह है कि मैंने अपने धार्मिक कर्तव्यों का सदा पालन किया है। मैं कभी धर्म से च्युत नहीं हुआ।' इससे यह तथ्य उजागर होता है कि पुत्र, पत्नी, परिवार, पैसा, पद-प्रतिष्ठा—इनके पीछे आम आदमी जहां पागल बना दौड़ रहा है, वहां इस सचाई को भी नकारा नहीं जा सकता कि इन सबसे ऊपर भी एक चीज है, जिसके बिना सुख-शांति का रास्ता अजाना-अचीन्हा रह जाता है—वह है धर्म। धर्म-शून्य व्यक्ति बाहर से सब-कुछ पाकर भी अंतस में रिक्तता का अनुभव करता है, जबकि धार्मिक व्यक्ति वस्तुजगत की न्यूनता को भी आंतरिक संपदा के कारण पूर्णता में बदल देता है। वह जानता है कि पदार्थ-सापेक्ष सुख अस्थाई है। धार्मिक आस्था और सम्यक् आचरण से होने वाली सुखानुभूति स्थाई होती है। कहा है—

**एक एव सुहृद्धर्मो, निधनेऽप्यनुयाति यः।**
**शरीरेण समं नाशं, सर्वमन्यद्धि गच्छति।।**

धर्म ही एक ऐसा मित्र है जो मरणोपरांत भी साथ निभाता है। बाकी सब-कुछ पीछे छूट जाता है।

## धर्म की परिभाषा

वस्तु का स्वभाव ही धर्म है—**वत्थु सभावो धम्मो।** स्वभाव है—मौलिकता। स्वभाव सुखद होता है, सहज होता है। जैसे अग्नि का स्वभाव है—उष्णता, पानी का स्वभाव है—शीतलता, नदी का स्वभाव है—सदैव गतिमान रहना और पहाड़ों का स्वभाव है—अटल/अडोल रहना। पदार्थों की ऐसी निजी स्वाभाविक क्रियाएं किसी के लिए कष्टकर नहीं होतीं। इसी तरह चेतना का स्वभाव है—ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनंद। इस स्वभाव में रहना ही धर्म है। स्वभाव की विस्मृति या विकृति अधर्म है। धर्म स्वभाव है। आत्मानुभूति है।

भारतीय मनीषा में धर्म केवल ईश्वरीय आस्था ही नहीं है, वह एक वैश्विक व्यवस्था भी है, सृष्टि का सार्वभौम, सार्वकालिक नियम है, जीवन-पद्धति है। धर्म मजहबी विश्वास या बंधन नहीं है। वह आंतरिक प्रकाश है, ज्ञान और आनंदमयी चेतना का स्पंदन है। धर्म वह आचार-संहिता है, जिसमें है—सर्वोदय। उसमें सबका अभ्युदय और सबका विकास निहित है। धर्म मनुष्यता का मंत्र है। उन्नति का तंत्र है। पशुता को मनुजता में रूपांतरित करने का यंत्र है।

धर्म एक मर्यादा है, वह जीवन को मर्यादित करता है। व्यक्ति और समाज की उच्छृंखल वृत्तियों-प्रवृत्तियों का नियमन करता है। धर्म-सम्मत जीवन वह है, जहां मनुष्य किसी भी प्राणी को हानि पहुंचाए बिना नैतिक समाज में अपनी मिसाल खड़ी कर सके। बिना किसी को कष्ट दिए, स्वयं सत्कर्म में लगा रहे। धर्म वह है—जिससे अपना भी हित हो और दूसरों का भी हित हो। अभी, वर्तमान में भी हित हो और परिणाम (भविष्य) में भी हित हो। इस लोक में भी हित हो और परलोक में भी हित हो। जिससे अभ्युदय भी हो और निःश्रेयस भी हो।

## धर्म है जीवन की समग्रता

प्रत्येक संसारी प्राणी का अस्तित्व यौगिक है। वह न केवल शरीर है और न केवल आत्मा। वह दोनों का जोड़ है। शरीर आत्मा का अधिष्ठान है। व्यवहार के धरातल पर संपूर्ण शास्त्र वह है जो शरीर की अपेक्षाओं को पूरा करने की सम्यक् प्रविधि बताए और आत्मा के स्वरूप का भी बोध कराए। शरीर की अपेक्षा-पूर्ति और बाहरी विकास का नाम है—अभ्युदय। स्वयं को जानना, समझना और पाना—इसका नाम है—निःश्रेयस। धर्म को समग्रता से परिभाषित करते हुए ऋषियों ने कहा—**यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।**

अभ्युदय की प्रेरणा है—पदार्थ दृष्टि। निःश्रेयस की प्रेरणा है—यथार्थ दृष्टि या परमार्थ दृष्टि। कोरी पदार्थ दृष्टि आदमी को स्वार्थ-परायण बनाती है। यथार्थ दृष्टि परमार्थ चेतना के जागरण में निमित्त बनती है। अभ्युदय का उपाय है—विज्ञान, आज का 'साइंस'। निःश्रेयस का उपाय है—ज्ञान। जिससे पदार्थ-जगत का, भौतिक वस्तुओं का रहस्य उद्घाटित हो, वह ज्ञान है। दूसरों को जानना विज्ञान है, स्वयं को जानना ज्ञान है। श्रीकृष्ण ने गीता के द्वारा ज्ञान और विज्ञान—दोनों का उपदेश दिया। भगवान महावीर ने भी अर्थ और धर्म की अवगति प्रदान करने वाला शिक्षण-प्रशिक्षण दिया। **अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसट्ठिं सुणेह मे**—उत्तराध्ययन; यहां अर्थ-शिक्षा से तात्पर्य है—भौतिक विज्ञान तथा धर्म-प्रशिक्षण का अर्थ है—अध्यात्म विज्ञान। भगवान महावीर परम वैज्ञानिक थे।

उन्नति, प्रगति, विकास—ये सब अभ्युदय के विस्तार हैं। 'प्रोग्रेस' या 'डवलपमेंट' का संबंध मुख्यतः औद्योगिक विकास से है। यह आधुनिक विज्ञान व प्रौद्योगिकी की देन है। औद्योगिक विकास की होड़ और दौड़ ने जीवनमूल्यों को उपेक्षित किया है, आहत और क्षत-विक्षत किया है। इसने पारिवारिक संबंधों से लेकर पर्यावरण संतुलन तक को प्रभावित किया है। उन्नति और प्रगति भी विकास की ही सगी बहिनें हैं। उन्नति का अर्थ है—ऊर्ध्वगति, ऊर्ध्वारोहण। प्रगति का अर्थ है—लक्ष्य की दिशा में तीव्र गति, त्वरता। अध्यात्म के नियंत्रण के अभाव में उन्नति और प्रगति मनुष्य-जाति के लिए खतरा बन जाती है।

आज प्रगति का अर्थ माना जाता है—पुरातन की अवमानना, पुरानी रूढ़ियों व परंपराओं का उन्मूलन, जो प्रवृत्तियां कभी उपयोगी रही हों, लेकिन वर्तमान में यदि उनकी कोई उपयोगिता नहीं है तो उनका भार ढोना व्यर्थ है। किंतु, कुछ मूल्य शाश्वत होते हैं। प्रगतिवाद के नाम पर उन शाश्वत जीवनमूल्यों को नकारना अनिष्टकारी हो सकता है। धर्म का मूल्य शाश्वत है। वह सदा-सर्वदा सबके लिए उपयोगी है। आधुनिकता और वैज्ञानिक विकास के नाम पर धर्म जैसे जीवन-तत्त्व को नकारना विज्ञान नहीं, अज्ञान है।

युगधर्म परिवर्तनशील होता है। सभी धर्म युगधर्म नहीं होते। भगवान महावीर ने कहा—**सव्वे पाणा ण हंतव्वा एस धम्मे धुवे णिइये, सासए**—किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन मत करो, यह अहिंसा धर्म ही ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। उन्होंने धर्म को समग्रता से परिभाषित करते हुए कहा—

**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा, संजमो तवो।**—धर्म उत्कृष्ट मंगल है, समस्त विघ्न, बाधाओं, कष्टों का निवारक और सिद्धिदायक है। प्रश्न होता है, वह कौन-सा धर्म? जैन, बौद्ध, हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई या

अन्य कोई धर्म? भगवान महावीर की दृष्टि में ये तो धर्म के अधिष्ठान हैं, संप्रदाय हैं। यथार्थ में धर्म है अहिंसा, धर्म है संयम और धर्म है तप। ये शाश्वत मूल्य हैं। प्रेम, करुणा, मैत्री—ये अहिंसा के ही विस्तार हैं। संयम और तपस्या से ही अहिंसा सिद्ध होती है, पुष्ट होती है। आज अपेक्षा है मानवीय वात्सल्य-भाव की। वत्सलता के गर्भ से उत्पन्न होकर ही धर्म संकल्प-विकल्प व द्वंद्वों से मुक्त मानव-जीवन का सृजन करता है। वात्सल्य-भाव से भरी हुई मां कौशल्या, यशोदा और त्रिशला के आंगन में ही श्रीराम, कृष्ण और वर्धमान जैसे विराट व्यक्तित्व धर्ममय विग्रह धारण कर उत्पन्न हुए थे।

### धर्म का उद्देश्य

धर्म असीम सत्य को ग्रहण करने का ससीम प्रयत्न है। वह असीम सत्य तक पहुंचने का सार्थक उपक्रम है। प्रत्येक व्यक्ति की आंतरिक अभीप्सा रहती है—शांति, प्रकाश, पूर्णता और आनंद की उपलब्धि। इस दिशा में प्रस्थान करना, पुरुषार्थ करना ही धर्म की आराधना है। यही सुख का मार्ग है। जब वह इनके विरोध में जाता है, तब दुख उत्पन्न होता है। अविद्याग्रस्त प्राणी अपने आस-पास एक सीमा-रेखा या घेरा बना लेता है। अपनी विराट सत्ता को भूल कर संकीर्ण दायरों में कैद हो जाता है। यह संकीर्णता ही दुख है। उपनिषद कहते हैं—**यदल्पं तद्दुःखं यो वै भूमा तत्सुखम्।**

धर्म नाम का तत्त्व करोड़ों वर्षों से मानव-जाति के साथ जुड़ा हुआ है। हजारों खंडों में विभक्त मानव-समुदाय अपने-अपने ढंग से धर्म को परिभाषित करता है, व्याख्यायित करता है। उसका स्वतंत्र मूल्यांकन करता है। सही मानी में धर्म को किसी जाति, वर्ग, समुदाय और संप्रदाय में बांटा नहीं जा सकता। वह एक है, अविभक्त है। जो सबके हितों का संपादन करे—वह धर्म है। यद्यपि विश्व का कोई भी धर्म आपस में विरोधी या प्रतिरोधी नहीं है। फिर भी धर्मों में परस्पर टकराव होता है। सत्ता, संपदा व सम्मान के लोभियों ने अपने स्वार्थ या अहंवश अनेक बार धर्म का दुरुपयोग किया है, एक-दूसरे के लिए परेशानी उत्पन्न हुई है। इसका कारण है—संकीर्ण दृष्टिकोण। इसकी देन है—धार्मिक कट्टरता और धर्मांधता। इसी की उपज है—आतंकवाद, युद्ध और संघर्ष।

जब किसी कक्ष की खिड़कियां बंद होती हैं तो घुटन का अनुभव होता है। प्रकाश की एक भी किरण वहां नहीं उतर सकती। आज मनुष्य ने चारों ओर दीवारें खड़ी कर ली हैं। कहीं भाषा की दीवार तो कहीं जाति की, कहीं प्रांतीयता की दीवार तो कहीं राष्ट्रीयता की, कहीं मजहब की दीवार तो कहीं मान्यता की। सब अपने-अपने दायरों में कैद हैं। दीवार से परे झांकने की क्षमता भी नष्ट हो चुकी है। जैसे अपराध करने वाले कैदी का बाहर की दुनिया से संबंध कट जाता है, वैसे ही धार्मिक कट्टरपंथी चारों ओर फैले सत्य के प्रकाश से आंखें मूंद लेते हैं।

प्रत्येक धर्म का उद्देश्य है—पशुता पर नियंत्रण और दिव्यता का विकास। धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक सिद्धांतों का निर्माण इसी पवित्र दृष्टि से हो सकता है। धर्म की आराधना का उद्देश्य होना चाहिए—विचारों की उत्कृष्टता, भावनाओं की पवित्रता एवं आचरण की श्रेष्ठता।

संपूर्ण धर्मशास्त्रों में आचार का स्थान सर्वोपरि है। आचार से ही धर्म उत्पन्न होता है, आचार से ही धर्म की धारा प्रवाहित होती है। कहा भी है—

**सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते।**
**आचार-प्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।।**

### धर्म की उपेक्षा, अस्तित्व की उपेक्षा

धर्म अपने विराट रूप में उतना ही व्यापक है, जितना यह विश्व। जीवन का प्रत्येक पक्ष धर्म से शासित हो कर ही श्रेष्ठता का वरण करता है। राजतंत्र हो या व्यवस्था तंत्र, अर्थ तंत्र हो या समाज तंत्र, शिक्षा तंत्र हो या साधना तंत्र—नीतिमत्ता, कर्तव्यपरायणता, दायित्वशीलता, संयम, अनुशासन और त्याग—ये सर्वत्र अपेक्षित हैं। इनके बिना व्यक्ति, समाज या परिवार की किसी भी भूमिका में जीवन को सुदृढ़ आधारशिला नहीं मिलती। धर्म ही समाज को धारण करने वाली धुरी है। धर्म समाज का अनिवार्य तत्त्व है। प्रगति का आधार है। धर्म की उपेक्षा अस्तित्व की उपेक्षा है।

धर्म कोई संगठन, समाज, पंथ या संप्रदाय नहीं है। वह जीवन जीने की एक स्वस्थ शैली है। सुख-शांति-पूर्वक रहने की एक कमनीय कला है। स्वयं शांत-संतुलित जीवन जीएं और दूसरों की सुख-शांति में बाधक न बनें—यही धर्म की आचार-संहिता है। धर्म का सौरभ जन-जीवन में करुणा, संवेदनशीलता, स्नेह, सद्भाव, श्रद्धा, समन्वय और आपसी सहयोग भावना का संचार

करता है। इससे मानवीय संबंधों में स्निग्धता और सरसता का समावेश होता है।

वर्तमान में धर्म का जो रूप प्रस्तुत किया जा रहा है, वह कष्टदायक है। धर्म की गलत धारणा, व्याख्या और गलत व्यवस्था से विभिन्न समुदायों में कटुता, अशांति, तनाव और संघर्ष का वातावरण बना हुआ है। भाईचारा, सहयोग, सहअस्तित्व और एकता—जो धर्म का सर्वहितकारी मंगलमय स्वरूप है, वह तिरोहित हो रहा है। धर्म के नाम पर मनुष्य-जाति छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो रही है। उसकी शांति और विश्वास समाप्त हो रहे हैं।

कोई भी संप्रदाय या पंथ अपने-आप में अच्छे संगठन हो सकते हैं, यदि वे सर्वकल्याणकारी व सर्वहितकारी ध्येय को सामने रख कर एक व्यवस्था में चलें। लेकिन, जब वे धर्म के नाम पर नकली आवरण पहन कर, समाज को तोड़ने व मनुजता को बांटने का काम करने लगते हैं तो जनमानस में उस तथाकथित धर्म के प्रति घृणा और विद्रोह के भाव भर जाते हैं।

**धर्म के रहस्य-सूत्र :**

धर्म के मर्म को समझने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता का यह प्रसंग मननीय है। प्रश्न पूछा गया—

**कथमुत्पद्यतेधर्मः, कथं धर्मो विवर्धते?**
**कथं च स्थाप्यते धर्मः कथं धर्मो विनश्यति?**

धर्म कैसे उत्पन्न होता है? कैसे बढ़ता है? कैसे स्थापित होता है और कैसे नष्ट होता है। श्रीकृष्ण ने समाधान के स्वर में कहा—

**सत्येनोत्पद्यते धर्मो, दया-दानैर्विवर्धते।**
**क्षमस्वा स्थाप्यते धर्मः, क्रोध-लोभैर्विनश्यति।।**

धर्म का जन्म सत्यनिष्ठा से होता है, करुणा और त्याग से धर्म-भावना का विकास होता है। क्षमा से धर्म प्रतिष्ठित होता है और क्रोध तथा लोभ की वृत्ति धर्म को नष्ट कर देती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धर्म कोरा क्रिया-कांड ही नहीं है, वह आंतरिक बदलाव की प्रक्रिया है।

अनेक व्यक्ति भौतिक अभिसिद्धियों के लिए या कामनापूर्ति के लिए धर्म का सहारा लेते हैं और उसी को धर्माराधना की निष्पत्ति मान लेते हैं। यह दृष्टि का विपर्यास है। इसके संशोधन की अपेक्षा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—

**प्रवर्धते पराशांतिः, धृतिः संतुलनं क्षमा।**
**फलान्यमूनि धर्मस्य, फलं तस्यास्ति नोधनम्।।**

धर्म से परम शांति उपलब्ध होती है। धृति, नियंत्रण-शक्ति, संतुलन और सहिष्णुता का विकास होता है। ये ही धर्म के फल हैं। आर्थिक विकास धर्म का प्रत्यक्ष फल नहीं है। धर्म का उद्देश्य होना चाहिए चित्तशुद्धि, कषाय-मुक्ति और आत्म-सिद्धि। उसका उपाय है—संयम, तप, स्वाध्याय और ध्यान। ❖

---

**अहिंसा का मार्ग** पृष्ठ 30 का शेष

मैं जानता हूं कि जो बात मैं कई बार कह चुका हूं और जिस पर अमल करने की मैंने भरसक कोशिश भी की है, उसी को मैं दोहरा रहा हूं। असल में तो पहले भी मैंने कोई नई बात नहीं कही थी। मैंने जो कहा था वह तो सनातन सत्य है। हां, इतनी बात जरूर है कि मैंने कोई किताबी बात नहीं कही थी। मैं यह मानता हूं कि जो चीज मेरी रग-रग में भरी है, उसी को मैंने जोरदार शब्दों में कहा है। साठ साल तक इस चीज को जीवन के हर क्षेत्र में आजमा कर मेरी श्रद्धा और भी पक्की हुई है, और मित्रों के अनुभव से भी उसे शक्ति मिली है। यह एक ऐसी मूलभूत सचाई है कि मनुष्य अगर अकेला हो तो भी बगैर किसी झिझक से इस पर डटकर खड़ा रह सकता है। मैक्समूलर ने बरसों पहले कहा था—'जब तक सत्य पर अविश्वास रखने वाले लोग मौजूद हैं, तब तक सत्य को दोहराना ही पड़ेगा।' मैं इस बात को मानता हूं।

अगर हिंदुस्तान हिंसा को अपना धर्म बना ले और तब यदि मैं जिंदा रहूं, तो मैं हिंदुस्तान में रहने की परवाह नहीं करूंगा। वह मुझमें गौरव की भावना उत्पन्न नहीं कर सकेगा। मेरी देशभक्ति मेरे धर्म के अधीन है। मैं उसी तरह भारत से चिपटा रहता हूं, जिस तरह बालक अपनी मां की छाती से चिपटा रहता है; क्योंकि मैं मानता हूं कि भारत मुझे आध्यात्मिक पोषण प्रदान करता है। उसका वायुमंडल ऐसा है, जिसमें मेरी उच्चतम महत्त्वाकांक्षा पूरी हो सकती है। जब मेरी यह श्रद्धा चली जाएगी तब मैं अपने को ऐसा अनाथ मानूंगा, जिसे कभी कोई अभिभावक—पालक प्राप्त करने की आशा नहीं रह गई है। ❖

समाप्त

# जगता है पौरुष; समर्थन व प्रोत्साहन से

❁ समणी सत्यप्रज्ञा

*लौकिक व्यवहार या लौकिक कार्यों के निष्पादन में ही नहीं, आध्यात्मिक उन्नयन की सामुदायिक साधना में भी प्रशंसा की महती भूमिका है। कोई भी साधक साधना के क्षेत्र में प्रवेश पाता है, ज्ञान-दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य की साधना के रूप में पंचाचार की पालना का लक्ष्य उसके सामने रहता है। परमार्थ का परिचय, परमार्थ द्रष्टाओं की सेवा, व्यापन्नदर्शनी और मिथ्यादर्शनी व्यक्तियों का वर्जन उसका श्रद्धान होता है। ज्ञान का विकास करना है, दर्शन की विशुद्धि को प्राप्त करना है, चारित्र पर्यव को निर्मल, निर्मलतर और निर्मलतम बनाना है, क्षांति आदि तप में विशिष्ट करना है। अपनी शक्ति का उपयोग अधिक-से-अधिक निर्जरा की दिशा में करना है। इन्हीं संकल्पों के प्रति साधक समर्पित होता है। लेकिन, साधना के प्रथम कदम से ही हर साधक अबाध गति से चलता जाए, आसान नहीं। उसकी गति अबाधित रहे, लक्ष्य की जोत निरंतर सामने रहे—इसमें समर्थन—प्रशंसा की अहम भूमिका है।*

प्रकृति और व्यक्ति—दोनों ही प्रेरणा के स्रोत हैं। प्रकृति व व्यक्ति से उभरती कौन-सी तरंग किस क्षण, किसे क्या दे जाए—कहा नहीं जा सकता। इसलिए प्रेरणा किसी दृश्य या शब्द का नहीं, दृश्य या शब्द से उभरते प्रभाव का नाम है।

कोई भी कार्य करते हुए जब मुस्काती आंखों का मौन समर्थन मिलता है, तब कोई भी कार्य भार नहीं, एक उपहार बन जाता है। पीठ थपथपाने वाले हाथ शायद ही यह जान पाते हों कि उन्होंने आगे की सफलता के कितने अनखुले द्वार खोल दिए हैं। एक शाबासी कितनी ही कामयाबियों के द्वार खोल देती है, किसी बालक से कोई यह पूछे, जिसका परीक्षा-परिणाम देखकर मां का स्नेह मुखर हो उठता है। पारिश्रमिक के साथ मिली मालिक की एक आत्मीय मुस्कान से कितनी थकान धुल जाती है, कोई उस मजदूर से पूछे, जो दिनभर काम करके घर लौट रहा होता है। प्रशंसा का एक बोल व्यक्ति को आत्म-विश्वास के किस आकाश पर ले जा सकता है, कोई उस व्यक्ति से पूछे, जिसने नया-नया कार्य-क्षेत्र सम्हाला है।

समर्थन व प्रशंसा का एक बोल जिंदगी को बहुत आसान बना देता है। किसी भी परिवार, समाज या संगठन की सुदृढ़ता के मूल में प्रशंसा को देखा जा सकता है। प्रशंसा ही वह धागा है जो व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ता है, विकास-पथ को प्रशस्त करता है। सम्यक् शब्द प्रशंसार्थक अव्यय है। किसी भी विकास-यात्रा के मूल में इसकी उपस्थिति देखी जा सकती है। लोक में प्रायः इसी के आधार पर बहुत-से लोगों का निर्वहन देखा जाता है। परिजन आदि भी प्रायः प्रशंसित होने पर ही सम्यक् कार्य करते हैं। किसी भी समूह में सम्यक् कार्य संपादन में इसकी अहम भूमिका है। इतिहास बताता है—नृप आदि भी प्रशंसा से तुष्ट हो धन ही नहीं, सर्वस्व देने को भी तैयार हो जाते थे। कर्ण की शिराओं में इंद्र द्वारा कृत प्रशंसा ने ही वह प्राण भरा कि वह दानवीर बन गया। राजा भोज, विक्रमादित्य आदि के जीवन को भी इस संदर्भ में देखा जा सकता है। प्रशंसा की पहुंच इस लोक में ही नहीं, लोकोत्तर देवों तक में भी है। स्तुति आदि से तुष्ट हो वे भी अपेक्षित सिद्धि में योगभूत बनते हैं। स्पष्ट है कि प्रशंसा की प्राणधारा से ही स्वस्थ समाज की संरचना संभव है।

लौकिक व्यवहार या लौकिक कार्यों के निष्पादन में ही नहीं, आध्यात्मिक उन्नयन की सामुदायिक साधना में भी प्रशंसा की महती

भूमिका है। कोई भी साधक साधना के क्षेत्र में प्रवेश पाता है, ज्ञान-दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य की साधना के रूप में पंचाचार की पालना का लक्ष्य उसके सामने रहता है। परमार्थ का परिचय, परमार्थ द्रष्टाओं की सेवा, व्यापन्न-दर्शनीं और मिथ्यादर्शनी व्यक्तियों का वर्जन उसका श्रद्धान होता है। ज्ञान का विकास करना है, दर्शन की विशुद्धि को प्राप्त करना है, चारित्र पर्यव को निर्मल, निर्मलतर और निर्मलतम बनाना है, क्षांति आदि तप में विशिष्ट करना है। अपनी शक्ति का उपयोग अधिक-से-अधिक निर्जरा की दिशा में करना है। इन्हीं संकल्पों के प्रति साधक समर्पित होता है। लेकिन, साधना के प्रथम कदम से ही हर साधक अबाध गति से चलता जाए, आसान नहीं। उसकी गति अबाधित रहे, लक्ष्य की जोत निरंतर सामने रहे—इसमें समर्थन—प्रशंसा की अहम भूमिका है।

कोई व्यक्ति ज्ञान की कितनी भी गहराई में चला जाए, पर समुदाय के बीच आत्म-विश्वास उसे तभी हासिल होता है जब उसे दूसरों का समर्थन मिल जाता है। लोगों से मिलने वाला समर्थन उसे विश्वास देता है कि वह सही दिशा में गतिशील है। अभिज्ञान शाकुंतलम् में कहा भी गया है—

**आपंरितोषाद् बिदुषां न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानम्।**
**बलवदपि शिक्षितानामात्मन्य प्रत्ययं चेतः।। 1.2**

अध्यात्म की दिशा में व्यक्ति प्रस्थान करता है, दूसरों से मिलने वाला समर्थन उसे आश्वस्त, विश्वस्त और गतिशील बनाता है। 'मैं सही दिशा में हूं'—यह विश्वास बहुत-कुछ परिवेश की दृष्टि पर निर्भर करता है। एक के ज्ञान-प्रकाश की होने वाली प्रशंसा नए सौ प्रकाश-दीपों को पैदा करने का निमित्त बनती है। सम्यक्त्व का एक आचार है—**उपबृंहण**—अर्थात् जो ज्ञान आदि गुणों से संपन्न हैं, उनके गुणों का संवर्धन या संकीर्तन करना, अनुमोदन व प्रमोदभाव अभिव्यक्त करना। उसके आचार को पुष्ट बनाने का कार्य इससे स्वतः हो जाता है। इसकी प्रेरणा देते हुए कहा गया—

**धर्मोद्योतो महान् येन विहितो जैन शासने।**
**तस्योपबृंहणा कार्या गुरुभिर्भावृद्धये।।**

ज्ञानाचार की साधना में भी उपबृंहण की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सद्‌गुण का ग्रहण व अवगुण का परिहार भी इससे स्वतः हो जाता है।

दर्शन दृष्टि की निर्मलता, स्थिरता व पारदर्शिता है। यह आचार का प्राण है। आत्म-विशोधि के आधार पर दर्शन घटित होता है। सही श्रद्धा, सत्य की आस्था, सत्य की रुचि ही आत्म-विशोधि की मूल भित्ति है। शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्तिक्य—इसके लक्षण हैं। सामान्यतया व्यक्ति सहन करने, शांत रहने की भाषा नहीं जानता। लेकिन, आत्म-विशोधि का लक्ष्य जब उसके सामने रहता है तो उसे प्रेरणा मिलती है। उपशम आत्म-देवता की पूजा है। श्रामण्य उपशम-प्रधान है। जो उपशम करेगा वही श्रमण, साधक या महान है। उपशम विजय का मार्ग है। इतिहास के आदेय पृष्ठ वे ही हैं, जिनमें शम-संवेग आदि की गाथाएं मूर्त हुई हैं। ये ही सारे जीवन की सफलता का मापदंड हैं। उपशम में रमण करने वाले साधक के प्रति ही **अहो खंती, अहो मुत्ती**—जैसे धन्यता के स्वर उभरते हैं। इस प्रकार दर्शनाचार की अनुमोदना इस आचार को और अधिक प्राणवान बनाने की प्रेरणा है। प्रेरणा, प्रोत्साहन व प्रशंसा का क्षेत्र दर्शनाचार को प्रवर्धमान बनाता है।

चारित्राचार समिति, गुप्ति की छाया में महाव्रतों की परिपालना है। आंतरिक अप्रमाद व्यवहार में भी आए—इस दृष्टि से साधक का परीक्षण स्थल समुदाय है। सही आदर्श को सामने रखते हुए—कैसे चलना, कैसे बोलना आदि का निर्देशन समूह में ही संभव है। नैश्चयिक अप्रमाद व व्यावहारिक सजगता में जीने वाला व्यक्ति ही किसी के लिए आदर्श बन सकता है। ऐसे आदर्श की अनुमोदना कई नए आदर्शों को जन्म देगी। सामुदायिक साधना के संदर्भ में सारणा-वारणा शब्द प्रचलित हैं। अच्छे कार्य की प्रशंसा अच्छाई को प्रोत्साहन देगी, अच्छाई की भूमिका उर्वर बनेगी।

तपाचार आत्म-नैर्मल्य का बहुत बड़ा साधन है। आत्मा की निर्मलता साधक का लक्ष्य है। इस निर्मलता के लिए कोई ध्यान करता है, कोई स्वाध्याय करता है, कोई विनय करता है, कोई तपस्या करता है। मार्ग अनेक हैं, लक्ष्य एक है। इस साधना-सोपान पर जो जितना चल पाते हैं—उतने ही प्रशंसाई हैं। आंतरिक व बाह्य तप आत्म-दर्पण को उजला बनाने वाले हैं। इस तप व तप में लीन व्यक्ति की अनुमोदना स्वयं के लिए गुणोत्कर्ष व दूसरों के लिए प्रेरणा का हेतु है।

वीर्याचार समग्र साधना का प्राण है। शक्तिहीन को कभी न्याय नहीं मिलता। हर प्राणी में अनंत शक्ति

विद्यमान है। उसे जगाने का प्रयास दुर्लभ है। महानता उसी का वरण करती है जो अपनी शक्ति को जान लेता है, उसे जगा लेता है। जब संकल्प में शक्ति जाग जाती है तो नागपाश जैसे बंधन भी टूट जाते हैं। किसी भी कार्य के सामने आने पर जब प्रोत्साहन के बोल मिलते हैं—'इस जग में ऐसा कौन-सा कार्य है, जिसे तुम न कर सको! तुम सब-कुछ कर सकते हो।'—समर्थन व प्रोत्साहन के ये बोल व्यक्ति के पौरुष को जगा देते हैं। असंभव फिर कुछ रहता ही नहीं।

समूह में जीना अपने-आप में बड़ी साधना है। यह साधना हरएक को करनी होती है। इस साधना में सफल वही हो सकता है जो उचित प्रशंसा करना जानता है। ठीक ही कहा गया है—यदि तुम किसी को दे सकते हो तो प्रेरणा दो, प्रोत्साहन दो, समर्थन दो या फिर क्षमा दो। इसमें तुम्हारा कुछ भी खर्च नहीं होगा, और सामने वाले को बहुत-कुछ मिल जाएगा। स्वस्थ संगठन और समुचित विकास की आत्मा के रूप में ऐसी प्रशंसा श्लाघनीय कही जा सकती है। ❖

---

## रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित–प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

दूसरी और अंतिम किस्त

# हिम साम्राज्ञी

मामोनी रायसम गोस्वामी

भीड़ भी बेपनाह थी। सड़कों पर भी, और बसों के भीतर भी। बंगलो रोड के चौक के पास उन्हें कुछ बड़े-बड़े बैल दिख पड़े। सड़क के बीचोंबीच, सड़क विभाजक पटरी के निकट, वे इस तरह बैठे हुए थे कि कोई भी गाड़ी उनकी दुम कुचलती हुई निकल सकती थी। उनके खुरों को भी कुचल सकती थी।....

सीतादेवी ने अपना मुंह दूसरी ओर मोड़ लिया। ....एकाएक रोशनआरा पुलिस चौकी के पास बस रुक गई। वहां जबरदस्त जमघट लगा हुआ था। वहां एकाएक शोर भी मचने लगा। कुछ सवारियां हड़बड़ी में नीचे उतर गईं।—'क्या हुआ? क्या हुआ?' हर किसी की जबान पर यही शब्द थे।

चाहे शक्तिनगर चौक को पार करके वह नजफगढ़ जा रही होती, चाहे खैबर पास के रास्ते माल रोड से होती हुई वह कश्मीरी गेट जा रही होती, चाहे कोल्हापुर सड़क होते हुए वह घंटाघर से आ रही होती, उसे अक्सर वह सफेद गाय दिख जाती। उसके साथ उसका चितकबरा बछड़ा भी होता। वे दोनों ही या तो सड़क के एक कोने में खड़े होते या दूसरे पशुओं के साथ बैठे होते। लेकिन, हर बार दृश्य में कुछ परिवर्तन होता। या तो मां अपने बछड़े की नाक या उसका मुंह और कान चाट रही होती, या बछड़ा मां के थनों से दूध पीने की कोशिश में होता। पर, वास्तव में उसका इस तरह दूध पीना काफी पहले छुड़ा दिया गया था।

स्कूल जाते हुए या बाजार से गुजरते हुए गाय और उसके बछड़े को आंखों-ही-आंखों में तलाश करना उसकी आदत बन चुका था, और इस प्रक्रिया में उसे और भी कई गऊएं दिख जातीं। उनमें वे गऊएं भी थीं जिनके घाव ठीक हो चुके थे। पर, अगर आप उनके बहुत करीब हो जाएं तो वे आप को लहूलुहान भी कर सकती थीं। उनकी दुम और टांगें गोबर से पुती होतीं। कुछ गऊओं के सींगों और खुरों से खून बह रहा होता। कुछ गऊएं उसी जगह पर कई दिनों तक लगातार चक्कर लगाती रहतीं। कुछ सब्जी मंडी की सब्जी वाली दुकानों से हटने का नाम ही न लेतीं। फिर कुछ ऐसी भी थीं जो नृसिंह मार्ग और नांगिया पार्क के भारी आबादी वाले इलाके में ही बने रहना चाहतीं और वहीं आवारागर्दी करतीं।

इस इलाके में कई सफल व्यापारी रहते थे। उनमें कुछ दिल्ली के पुराने व्यवसायी भी थे। उनमें से काफी, सुबह-सुबह स्नान करके और अपनी गर्दन पर सफेद कपड़ा लपेटकर अपनी गऊओं को—जिनका रंग भूरा या काला होता—गेहूं की भूसी खिलाने चले आते। उनके लिए यह एक धार्मिक कृत्य था। वे बहुत सुबह, एक झटके से, अपने-अपने बिस्तर से उठते और गऊ माता के सामने अपनी-अपनी भेंट रख आते। यदि वे न आ पाते, तो उनकी जगह उनकी पत्नियां आतीं, लंबे-लंबे घूंघट काढ़े और गऊओं के सामने साष्टांग लेट जातीं। कुछ 'महंत' लोगों की रोजी-रोटी का साधन ही यही था कि वे ठेलों पर अपने में अजूबा, पांच टांग वाली गऊओं को लिए चले आते और ये महिलाएं उन्हें परांठे खिला-खिलाकर रिझातीं। शनिवार को भी ये लोग अपनी-अपनी गऊओं के

कहानी

गले में कौड़ियों की माला डालकर और उनके सींगों को चांदी से मढ़कर, शंख या ऐसा ही कोई यंत्र बजाते हुए गलियों में चले आते और सेठानियां अपने-अपने घरों से बाहर आकर उनकी पूजा-अर्चना करतीं।

लेकिन, सड़कों पर आवारा घूमती गऊओं का क्या हो? बड़ी-बड़ी कारों में घूमने वाली सेठानियां उन्हें भी तो देखती होंगी?

तब?

क्या वे केवल नई दिल्ली के ही चक्कर लगाती हैं? पर, नई दिल्ली की सड़कों पर तो ये गऊएं कहीं देखने को भी नहीं मिलतीं, वहां तो वे फूलों और फलों से सजी-संवरी सामने आती हैं ताकि विदेशी पर्यटकों को फांसा जा सके। नई दिल्ली की सड़कों और पुरानी दिल्ली की सड़कों का कोई मुकाबला नहीं। पुरानी दिल्ली में तो गाड़ियों की भरमार रहती है और गऊओं की भी। पुरानी दिल्ली तो अब उपेक्षित पटरानी हो गई है।

सीतादेवी लगभग हर रोज ही सोचती कि वह देश के बड़े-बड़े पत्रों में लिखेगी और लोगों का ध्यान उन गऊओं की दुर्दशा की ओर खींचेगी जो अपना जीवन भीड़-भड़क्के वाली सड़कों पर ही बिता देती हैं, पर स्नेह हमेशा उसे मना करती और कहती कि वह अपना समय यों ही बरबाद न करे और अपना मन उधर से हटाकर किसी और काम में लगाए। पर सीता पर तो हिम साम्राज्ञी का जादू चल चुका था। और इस पर ताज्जुब यह कि उसे हिम साम्राज्ञी के बारे में सपना भी आया था। सपना भी सुहावना था—पुरानी दिल्ली की चौपहिया गाड़ियों की चिल्ल-पों कहीं नहीं थी। शीशे की किरचें और खून के धब्बे, जो वहां के कूचे-महल्लों में अक्सर दिख जाते थे, वे भी नदारद थे। कौए, तिपहिए, तांगे, रेडलाइन और ग्रीनलाइन बसें—उनका भी कहीं नामोनिशान न था। कुदसिया बाग हरी घास और गुलमोहर से लदा हुआ था। घोड़े द्वारा खींची जा रही एक विक्टोरिया बग्घी में कुदसिया बाग का मालिक, नवाब मुहम्मद शाह बैठा था। साथ में बेगम उद्धमबाई भी थी। वे बाग का चक्कर लगा रहे थे। उनके पीछे-पीछे उनके गुलाम दौड़ते चले आ रहे थे। उनके हाथों में हुक्के और पीकदान थे।

बाग में गुलमोहर और गुलाब खिले हुए थे। ये मुहम्मद शाह के अपनी चहेती हिंदू बेगम, उद्धमबाई के लिए तोहफे थे। मुहम्मद शाह को नवाब कुदसिया साहिबेजमां भी कहा जाता था। उनके कपड़ों से आ रही इत्र की खुशबू चप्पे-चप्पे में फैली हुई थी। वाह! क्या नजारा था! न ही बस अड्डे की फटी आवाज वाली गाड़ियां, न ही बेसब्र कौए। बल्कि हरी घास, गुलाब और गुलमोहर का समुद्र और इत्र की लुभावनी ख़ुशबू। नहीं, वहां कुछ भी नहीं था—न ही 'पशुनिर्दयता निवारण' वालों का कार्यालय, न ही वाहनों द्वारा धराशाई की गई गऊओं का अस्पताल। पर, उसे यह देखकर घोर ताज्जुब हुआ कि कुदसिया बाग के हरे बागीचों में हिम साम्राज्ञी तथा उसका चितकबरा बछड़ा मजे-मजे घास चर रहे थे। आह, कितना शांत और निर्विघ्न वातावरण था! बछड़े की दुम उठी हुई थी और वह उस लंबे-चौड़े मैदान में फुदक रहा था। उसे अब कोई मजबूरी न थी कि वह भीड़-भड़क्के वाली सड़कों पर सहमा-सा खड़ा रहे। उनके शरीर पर कहीं धूल-मिट्टी का भी निशान न था। वे तो रुई के गालों के समान दिख रहे थे। कुदसिया बाग और रामकिशोर रोड के किनारों पर वीरान पड़ा 'महल' अब जैसे जी उठा था। फानूस की मोमबत्तियों से आ रही रोशनी में संगमरमर का फर्श चमचमा रहा था.... अरे, अरे क्या हुआ? क्या हुआ? शीशे का फानूस गिरकर चकनाचूर हो गया। उसकी किरचें सीतादेवी के भीतर घुसी जा रही थीं। यह क्या है जो फव्वारों की तरह फूट पड़ा है! क्या है यह? खून?

सीतादेवी घबराकर उठ बैठी और उसने तकिए के नीचे रखी अपनी घड़ी निकाली—अभी दो ही बजे थे। पीड़ा और निराशा से कुछ देर तक वह बिस्तर में ही करवटें बदलती रही। उसका मन हुआ कि वह स्नेह के बिस्तर में घुस़ जाए। स्नेह भी तो उदासी में उसके बिस्तर में उसके साथ लेट जाती थी। पर नहीं, उसने ऐसा कुछ नहीं किया।

....सुबह सीता ने अपने सपने के बारे में स्नेह को कुछ नहीं बताया। फिर जब वक्त हो गया तो वे दोनों, बस पकड़ने के लिए, सिंह सभा रोड से घंटाघर की ओर चल पड़ीं। बस में, हमेशा की तरह, महिलाओं के लिए आरक्षित सीटों पर पुरुष बैठे हुए थे। स्नेह बड़ी होशियार

युवती थी। उसने अपना रास्ता बनाते हुए खिड़की के पास की एक सीट हथिया ली और सीता को भी अपने पास खींच लिया। बस जैसे ही शक्तिनगर के चौक वाले विस्तृत यातायात द्वीप से गुजरी, उसे दो आदमियों के निकट खड़ी वह सफेद गाय दिख गई। उसके पास ही बछड़ा खड़ा था।

सीता अपने को रोक न सकी। वह चिल्लाई—'अरे, वह देखो हिम साम्राज्ञी।'

—'हिम साम्राज्ञी?'

—'हां, हां, हिम साम्राज्ञी! उसका बछड़ा भी उसके साथ है।'

—'अरे, तुम उस गाय के बारे में कह रही हो? मैं तो भूल ही गई थी कि तुम उसे 'हिम साम्राज्ञी' कहकर पुकारती हो। ....गर्दन निकाल-निकालकर क्या देख रही हो। यहां बैठो! ....हे भगवान! चार-चार लोग एक ही सीट में घुसे जा रहे हैं। हालत वही-की-वही है, चाहे ग्रीन लाइन और रेड लाइन, सब तरह की बसें आ गई हैं।'

सीता ने स्नेह के शब्दों पर कोई ध्यान नहीं दिया। वह अंदर-ही-अंदर भुन रही थी। उसे किसी की कोई खबर न थी। वह अपने से ही कहे जा रही थी—'लोग कहते हैं, हमारा राष्ट्रीय चरित्र तबाह हो गया है।.... इसमें झूठ नहीं है, कोई झूठ नहीं है। कितनी बार मैंने उन्हें बुला भेजा। वे कहते हैं कि मालिक लोग आते हैं और रात को उन्हें उठा ले जाते हैं। मैं यह दावे से कह सकती हूं कि मैं इन गऊओं को पिछले एक महीने से लगभग उसी स्थान पर घूमते देख रही हूं। उनकी गोबर से सनी पूंछें ऐसे दिखती हैं जैसे उन पर गांठें बांधी गई हों। उनकी खाल भी गंदी बोरियों की तरह दिखाई देती है।'

सीतादेवी की पाठशाला के पास ही कश्मीरी गेट का बड़ा डाकघर था। जब पाठशाला में छुट्टी हो गई तो उसने वहां से नगर निगम को फोन मिलाया। पहले उसने पत्र-सूचना वालों का नंबर घुमाया। जब वहां के कर्मचारी को लगा कि वह तो मात्र पशुओं के बारे में बात करना चाहती है, तो उसने उसे सुझाव दिया कि वह निगम के पशु चिकित्सा विभाग से बात करे और उसे उसने वहां का नंबर भी दे दिया। जिस कर्मचारी ने पशु चिकित्सा विभाग में फोन उठाया था, उसकी जबान कुछ सख्त थी। बोला—'आवारा पशुओं के बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता। केवल पत्र-सूचना वाले ही आपको उसका विवरण दे सकते हैं....।'

सीता गुस्से के मारे चिल्ला उठी—'पत्र-सूचना वालों ने ही मुझसे कहा था कि आपसे संपर्क करूं। पिछले महीने से कुछ गऊएं....।'

कर्मचारी व्यस्त जान पड़ता था। फिर भी वह बोला—'वहां रुस्तम पाशा होगा। वह आपसे इस विषय में बात कर सकता है।'

सीता आसानी से हार मानने वालों में नहीं थी। उसने पत्र-सूचना कार्यालय में रुस्तम पाशा का नंबर मिलाया।

—'ये आवारा पशु वाकई हमारे लिए परेशानी का कारण बने हुए हैं। मुझे लगता है, वे उन्हें पकड़ने वाली हमारी गाड़ियों को पहचान गए हैं। आपको किन्हीं मालिकों से मिलना चाहिए। कोल्हापुर सड़क पर कहीं इन पेशेवर 'गुंडों' के अड्डे हैं। मैं उन्हें 'गुंडा' कहता हूं।'

—'पेशेवर गुंडों के अड्डे?'

—'हां, ज्यादातर मालिक तो 'मांस-पुट्ठों वाले' हैं। जरूरत पड़ती है तो वे लाठियों से पीट-पीटकर आदमी का कचूमर निकाल देते हैं। इसमें शक नहीं कि वे कांजी हाउस से अपनी गऊएं छुड़वा लेते हैं, लेकिन जैसे ही वे कुछ दूरी तय कर लेते हैं, वे उन्हें खुला छोड़ देते हैं.... मेरी बात ध्यान से सुनिए—दिल्ली में जब इंसानों के लिए ही जगह नहीं बची है, तब वे इन गऊओं को कहां रखेंगे? आप जानती हैं कि इनमें से कुछ मालिक लोग पटरियों पर ही अपना धंधा चलाते हैं? सरकारी जमीन के बड़े-बड़े खंडों पर ये कब्जा जमाए हुए हैं। ....हम कांजी हाउस में सात दिन तक ही गऊएं रख सकते हैं। बाद में उन्हें गऊशाला में भेज देते हैं।'

इस पर सीतादेवी अपने पूरे जोर से बोली—'पर मैं आपको कुछ बताना चाहती हूं.... मैं पिछले एक महीने से वही गऊएं सड़कों पर देख रही हूं। एक सफेद गाय और उसके बछड़े को कारों और बसों के बीच घूमते एक महीने से अधिक हो गया है.... कृपया अपनी गाड़ी भेजिए.... मेरा पता है....'

पाशा साहब ने रुक-रुककर उत्तर दिया—'क्योंकि आपने शिकायत लिखवाई है, इसलिए हम पशु उठाने

वाली गाड़ी जरूर भेजेंगे। पर, इस समय कोई भी गाड़ी खाली नहीं है। वे सरायरोहिला गई हुई हैं। आप कुछ देर के बाद फोन करें....'

एक हफ्ता बीत गया। एक दिन पाठशाला से छुट्टी होने के बाद वह बस अड्डे से घंटाघर के लिए एक बस में बैठी। कहने को दिल्ली में पंद्रह हजार बसें चलती हैं, जिनमें रेड लाइन और ग्रीन लाइन सभी शामिल हैं, पर भीड़ में कोई फर्क नहीं पड़ा।

यह बस भी पूरी तरह भरी हुई थी, इसलिए उन्हें खड़े ही रह जाना पड़ा। कुछ-कुछ लोग तो चमगादड़ों की तरह बसों से चिपटे रहते हैं....

बहरहाल, यह बस निकलसन कब्रिस्तान को पार कर चुकी थी। वह एक्सचेंज स्टोर्स से भी आगे बढ़ गई थी और शामनाथ मार्ग के निकट थी। तब स्नेह उसके कान में फुसफुसाई—'यह वही स्थल है जहां 240 नंबर की बस को बम से उड़ाया गया था।'

उन्होंने बाहर देखने की कोशिश की, लेकिन यह संभव न हो सका, क्योंकि उनके चारों ओर लोग-ही-लोग थे। माल रोड को पार करके सेंट स्टीफन कालेज के सामने वाली सड़क पर जाने की बजाय बस बंगलो रोड पर हो ली। जब छात्रों ने बगावत की थी और कुछ बसों को तोड़-फोड़ डाला था, तब उन्हें बंगलो रोड की तरफ से ही भेजा जा रहा था। अब भी कुछ ऐसा ही हुआ दिखता था।

भीड़ भी बेपनाह थी। सड़कों पर भी, और बसों के भीतर भी। बंगलो रोड के चौक के पास उन्हें कुछ बड़े-बड़े बैल दिख पड़े। सड़क के बीचोंबीच, सड़क विभाजक पटरी के निकट, वे इस तरह बैठे हुए थे कि कोई भी गाड़ी उनकी दुम कुचलती हुई निकल सकती थी। उनके खुरों को भी कुचल सकती थी।....

सीतादेवी ने अपना मुंह दूसरी ओर मोड़ लिया। ....एकाएक रोशनआरा पुलिस चौकी के पास बस रुक गई। वहां जबरदस्त जमघट लगा हुआ था। वहां एकाएक शोर भी मचने लगा। कुछ सवारियां हड़बड़ी में नीचे उतर गईं।—'क्या हुआ? क्या हुआ?' हर किसी की जबान पर यही शब्द थे।

—'एक्सीडेंट! एक्सीडेंट!'

एक और आवाज आई—'खुदा का शुक्र है। आदमी नहीं मरा, एक गाय मरी है।'

सीतादेवी ने स्नेह का हाथ कसकर पकड़ लिया। वे दोनों भी जल्दी से बस से नीचे उतर गईं। ओह, वही, वही सफेद गाय। उसकी खोपड़ी कुचली जा चुकी थी। उसका चितकबरा बछड़ा उसके पास ही खड़ा था, अपनी मां के पास। मां की खोपड़ी से बहती खून की धारा बछड़े की टांगों के पास एक तलैया का रूप लेती जा रही थी।

सीतादेवी से यह बरदाश्त न हुआ। भीड़ को एक तरफ ठेलती हुई वह बस की ओर बढ़ गई।

स्नेह ने अब सीता के गऊओं से संबंधित काम में साथ देना छोड़ दिया था। पर, सीता उसका साथ छोड़ने को तैयार न थी। उसके जूतों के तल्ले घिस चुके थे। उसकी जेब का पैसा भी धीरे-धीरे खत्म हो रहा था, पर उसकी कोशिश बदस्तूर जारी थी। ❖

समाप्त

*अनुवाद : श्रवणकुमार*

---

**कर्मक्षयार्थ तप्यत इति तपः** पृष्ठ 22 का शेष

जैन धर्म में तपस्या का स्थान-स्थान पर अतीव रोचक वर्णन आया है। भगवान ऋषभ ने हजारों वर्षों तक तपस्या की। महावीर आदि अनेक महान तपस्वियों की तपःसाधना का वर्णन सुनने को मिलता है। निष्काम-भाव से की गई तपस्या अवश्य फलवती होती है। तप वह रसायन है जो आत्मा को शुद्ध बना देती है। तप वह हीरा है जो आत्मा को देदीप्यमान बना देता है। तप अंतर्मुखी वृत्ति की साधना है। मूलाचार में तप को उपमित करते हुए कहा है—तप एक नगर है। धैर्य, उत्साह और निश्चित गति उस तप रूपी नगर के प्राकार हैं। चारित्र उसके उत्तुंग गोपुर हैं। क्षमा और सुकृत धर्म उसके फाटक तथा संयम रक्षक (कोतवाल) के समान है। तप आत्मशोधन तथा कर्मक्षय की एक अखंड प्रक्रिया है। तप मनुष्य गति में ही संभव है। इसी जन्म में तप-साधना करके मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

❖

# वंशी माहेश्वरी की कविताएं

## जीवम ठीक मृत्यु की तरह प्रार्थनारत है

लगभग सभी चीजों के होते हैं
कुछ-न-कुछ मापदंड
होती रहती हैं वे गाहे-बगाहे निर्धारित
अपने-अपने आरंभ, शेष और अवशेष के अस्तित्व में
जीवन नापने के लिए बने हैं
समय, दिन, माह, वर्ष और वगैरह-वगैरह
उम्र के साथ गिन कर
दर्ज कर लिया जाता है जीवन
पारिवारिक किताब में, इतिहास में, स्मृति में.

जीवन ठीक मृत्यु की तरह प्रार्थनारत है
जिस में गिरती रहती हैं
टूटती, उठती, खोजती, अधूरी सहस्रधाराएं
नहीं होते उन में इस तरह
नाप-माप के ताप
जिस तरह स्वप्न के साथ होती नहीं हैं आंखें
जिस तरह उम्मीद के साथ होती नहीं हैं संभावनाएं
जिस तरह सच के साथ होती नहीं हैं शर्मिंदगियां.

चलते रहते हैं
कितने ही शब्द
उछलते रहते हैं
कितने ही अर्थ
कितनी ही कविताएं होती रहती हैं न्योछावर कविता में
जिस तरह
पवित्रता में गिरती रहती है अपवित्रता
तब भी बचा रहता है बोध
उस फूल की अंतिम कुम्हलाई पत्ती की तरह
या उस बच्चे के कोमल गालों पर बहती
एकांत बूंदों की तरह
जिस में ठहर जाता है प्रतिबिंबित क्षण.

मैं जानता हूं उतना कि जानता हूं जितना
इन चीजों के बारे में
कि रहस्य खुलने में
छूट जाएगा बहुत पीछे अमर्त्य समय.

## अकेला मनुष्य

अकेला मनुष्य
मनुष्यों के बीच
अकेले एकांत में
अकेला नहीं होता.

अकेला मनुष्य
खोने की उदारता में
खो देता है
पाने का भ्रम

अकेला आदमी
उठ कर
जब चला जाता है मनुष्यों में,

नितांत
अकेलेपन में खोई छूटी जगह
अपने में भटकती
अपने को खोजती

खो जाती है
मनुष्यों से दूर.

## अस्त

बाहर-भीतर
बिछे अंधकार में
अस्त हो गया शरीर

कहीं-न-कहीं
छूट गई दरार
जहां छूट गया है अधूरापन चुपचाप.

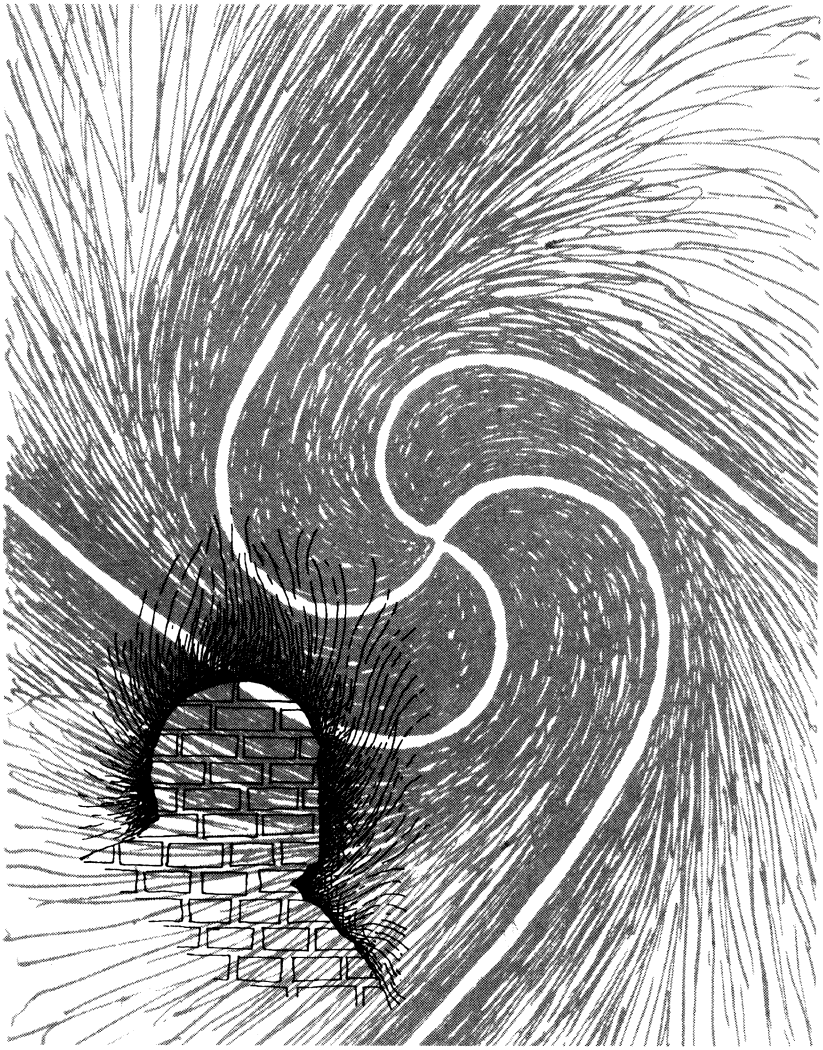

# शीलन

विज्ञान मन को महत्त्व नहीं देता। वह प्रत्यक्ष स्थिति को, 'ऑब्जेक्टिव ट्रुथ' को महत्त्व देता है। आत्मज्ञान भी मन को महत्त्व नहीं देता। वह कहता है, जैसे हम इस घड़ी से अलग हैं, वैसे हम मन से अलग हैं। मन का साक्षी बनकर हमें बरतना चाहिए। इस तरह आज विज्ञान और आत्मज्ञान, दोनों के ही हमले मन पर हो रहे हैं। इसलिए जो मन के ऊपर उठेंगे, वे ही दुनिया को जीतेंगे।

मैंने एक श्लोक बनाया है, इन दिनों वह मेरे जप का मंत्र बन गया है—

*वेदांतो विज्ञानं विश्वासश्चेति शक्तयस् तिस्रः*
*यासां स्थैर्ये नित्यं शांति-समृद्धि भविष्यतो जगति*

**—विनोबा**

# जैन दर्शन और जीव विकास

❁ सोहनराज तातेड़

जैन दर्शन में जीव संबंधी विशद विवेचन मिलता है और जीव-विकास को परिभाषित करने का गहन प्रयास भी हुआ। जीव-वैज्ञानिकों के पास जीव से संबंधी विस्तृत ज्ञान है, पर जैन दर्शन में इसकी व्यापकता तुलनात्मक रूप से अधिक है। जीव-विज्ञान में जीव के जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है, उनका वर्णन जैन दर्शन में भी किया गया है। दोनों ही दृष्टियों से जीव-लक्षण की जानकारी करनी अपेक्षित है।

*हमारे पुरुषार्थ का, अच्छाइयों का, बुराइयों का, न्यूनताओं और विशेषताओं का सारा लेखा-जोखा और सारी प्रतिक्रियाएं कर्म-शरीर में अंकित हैं। वहां से जैसे स्पंदन आते हैं, आदमी वैसा ही व्यवहार करने लग जाता है। कर्म का सिद्धांत अति-सूक्ष्म है। स्थूल बुद्धि से परे का सिद्धांत है। आज के 'जीन विज्ञान' ने कर्म सिद्धांत को समझने में सुविधा प्रदान की है। जीन व्यक्ति के आनुवंशिक गुणों के संवाहक है। व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद दिखाई देता है, वह जीन के द्वारा किया हुआ भेद है। प्रत्येक विशिष्ट गुण के लिए विशिष्ट प्रकार का जीन होता है। यह आनुवंशिकी के नियम कर्मवाद का संवादी नियम है।*

## वैज्ञानिक दृष्टिकोण

प्रत्येक जीव में एक प्रकार का रसायन पाया जाता है जो कि एक ही प्रकार की रासायनिक क्रिया करता है। ये रसायन एक 'युनिट' में व्यवस्थित तरीके से रहते हैं, जिसे कोशिका कहते हैं। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से जीव मात्र में समायोजन व्यवस्था, संवेदनशीलता, संचार व्यवस्था, उद्दीपन, चयापचय, वृद्धि, विकास और प्रजनन आदि लक्षण पाए जाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार सभी जीवों में जो समान लक्षण पाए जाते हैं, वे निम्न हैं—

### प्रजनन

यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें जीव अपने ही जैसी प्रजाति पैदा करता है। यह दो प्रकार से होता है—योनिज (लैंगिक) तथा अयोनिज (अलैंगिक)। अयोनिज प्रजनन पूर्व में स्थित जीव के विकसित होने से ही हो जाता है। योनिज प्रजनन दो 'सेक्स' कोशिकाओं के द्वारा होता है। जब नर का शुक्राणु और मादा का अंडाणु आपस में मिलते हैं तो वे मर कर एक नई कोशिका का निर्माण करते हैं। उसमें आत्मा जन्म लेती है। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि इस प्रक्रिया द्वारा प्रजनन करते हैं।

### वृद्धि

जीव के अपने आकार का क्रमिक विकास होना वृद्धि कहलाता है। वृक्ष कुछ सरल अणुओं, पानी तथा कार्बन डाईआक्साइड से अपना भोजन बनाते हैं तथा उनसे वृद्धि के लिए आवश्यक जटिल रसायन का निर्माण करते हैं। जबकि पशु-पक्षी अपने भोजन को ही 'टिश्यू' की वृद्धि के लिए आवश्यक बना लेते हैं। वृद्धि निर्जीव में भी देखी जाती है, लेकिन सजीव और निर्जीव—दोनों की वृद्धि में अंतर है। निर्जीव की वृद्धि उसके फलक पर एक नई पर्त जम जाने के कारण होती है, जैसा कि क्रिस्टल आदि बनने में होता है।

## चयापचय

इस प्रक्रिया के दौरान जीव कुछ ऐसी रासायनिक प्रक्रिया करते हैं जिससे उन तत्त्वों का निर्माण होता है जो नई कोशिकाएं बनने के लिए आवश्यक हैं। पुरानी कोशिकाएं नष्ट हो जाती हैं तथा नई कोशिकाएं पैदा हो जाती हैं। इस प्रकार नई कोशिकाएं पुरानी कोशिकाओं को प्रतिस्थापित कर देती हैं।

## हलन-चलन

अधिकतर जीव हलन-चलन करते हैं। पौधों में भी आंतरिक हलन-चलन होता है। वे प्रकाश की ओर झुक जाते हैं।

## संवेदन

जीव अपने चारों ओर स्थित वस्तुओं की मौजूदगी को महसूस करते हैं तथा उससे प्रभावित भी होते हैं। किसी अन्य की मौजूदगी से जीव के व्यवहार में परिवर्तन भी आ जाता है जिसे संवेदन या 'स्टिमुलस' कहते हैं। अलग-अलग जीव को अलग-अलग वस्तु की मौजूदगी प्रभावित करती है। जैसे—किसी अन्य की मौजूदगी में कछुआ अपने को कठोर कवच में छिपा लेता है। पौधे प्रकाश की उपस्थिति में उस ओर ही बढ़ने लगते हैं।

## अनुकूलन

जीवों में यह गुण है, जिस कारण जीव अपने को मौजूद वातावरण में ढाल लेते हैं तथा स्वयं को उस वातावरण में जीने के योग्य बना लेते हैं। वस्तुतः अनुकूलन में जीव में स्थित 'जीन' में ही परिवर्तन हो जाते हैं जो कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनमें चलते रहते हैं। आज जो प्रजातियां उपलब्ध हैं वे जीव के इस गुण के कारण ही हैं।

## जैन दर्शन का दृष्टिकोण

जैन दर्शन में संसारी जीव के लक्षणों को संज्ञा, पर्याप्ति एवं प्राण के आधार पर समझाया जाता है।[1]

## संज्ञा

क्षुद्र प्राणी से लेकर मनुष्य व देव, सभी संसारी जीवों में आहार, भय, मैथुन व परिग्रह—इन के प्रति जो इच्छा पाई जाती है, उसे संज्ञा कहते हैं। विशिष्ट अन्न आदि में संज्ञा अर्थात् इच्छा का होना आहार-संज्ञा है। अत्यंत भय से उत्पन्न जो भाग कर छिप जाने आदि की इच्छा होती है, उसे भय संज्ञा कहते हैं। कामसेवन रूप क्रिया की इच्छा को मैथुन-संज्ञा कहते हैं। धन-धान्यादि के अर्जन, संग्रह व संरक्षण रूप जो इच्छा है, उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं।

## पर्याप्ति

इंद्रिय आदि रूप-शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। यह छः प्रकार की होती है—आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन। योनि (उत्पत्ति स्थान) में प्रवेश करते ही जीव वहां अपने शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण या आहार करता है। तत्पश्चात् उसके द्वारा क्रम से शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा व मन का निर्माण करता है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर इस कार्य में बहुत समय लगता होगा, ऐसा प्रतीत होता है, लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उपरोक्त छहों कार्यों की पूर्णता वह जीव एक अंतर्मुहूर्त में पूरी कर लेता है। एक इंद्रिय जीव की प्रथम चार (आहार, शरीर, इंद्रिय तथा श्वासोच्छ्वास), दो इंद्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पंचेंद्रिय जीवों तक के इन चार के साथ भाषा-पर्याप्ति—इस तरह पांच पर्याप्तियां तथा संज्ञी पंचेंद्रिय जीवों के छहों पर्याप्तियां होती हैं।

## प्राण

जीव जिससे जीता है, वे प्राण कहलाते हैं। वह दो प्रकार का है—निश्चय और व्यवहार। जीव की चेतनत्व शक्ति उसका निश्चय प्राण है और पांच इंद्रियों, मन, वचन और काय—ये तीन बल, आयु व श्वासोच्छ्वास—ये दस व्यवहार प्राण हैं। एकेंद्रिय (स्थावर) जीवों के स्पर्श इंद्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये चार प्राण होते हैं। द्वींद्रिय जीवों के इन चारों के साथ रसना इंद्रिय एवं भाषा के साथ छह प्राण होते हैं। तीन इंद्रिय जीवों के एक और घ्राणेंद्रिय मिलाने पर सात, चार इंद्रिय जीवों के चक्षु इंद्रिय सहित आठ, असंज्ञी पंचेंद्रिय जीवों के एक और कर्णेंद्रिय मिलाने पर नौ तथा संज्ञी पंचेंद्रिय जीवों के सभी दसों प्राण होते हैं। पर्याप्ति तथा प्राण में कुछ अंतर होता है। आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन रूप शक्तियों की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है—उसे प्राण कहते हैं। इस प्रकार इंद्रिय आदि शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं और जीवन के जो कारण हैं—उन्हें प्राण कहते हैं। इसलिए पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्यरूप है।

**विज्ञान और जैन दर्शन में जीव के लक्षणों की समानता**

विज्ञान में जीव के जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है, जैन दर्शन में भी उनका वर्णन किया गया है। इस तथ्य से जैन दर्शन व विज्ञान की मान्यताएं एक-दूसरे के बहुत करीब प्रतीत होती हैं। जीवविज्ञान में प्रजनन, वृद्धि, चयापचय, हलन-चलन, संवेदन तथा अनुकूलन गुण पाए जाते हैं, जबकि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव में चार संज्ञाएं होती हैं तथा वह अपनी वृद्धि पर्याप्ति के अनुसार करता है। इन संज्ञाओं के समानांतर वैज्ञानिक नाम निम्न प्रकार दिए जा सकते हैं—

| जैन दर्शन | विज्ञान |
| --- | --- |
| आहार-संज्ञा | चयापचय |
| भय-संज्ञा | संवेदन, हलन-चलन |
| मैथुन-संज्ञा | प्रजनन |
| परिग्रह-संज्ञा | वृद्धि |

इसके अतिरिक्त विज्ञान की भाषा में जिसे अनुकूलन कहा गया है, उसे भी जैन दर्शन में स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार काल-चक्र निरंतर चलता रहता है। काल में परिवर्तन के साथ-साथ जीव की लंबाई (अवगाहना), पृष्ठास्थियों की संख्या तथा आयु में भी परिवर्तन हो जाता है। पंचम काल के प्रारंभ में मनुष्य की औसत अवगाहना सात हाथ तथा शरीर के पृष्ठभाग में हड्डियों की संख्या 24 थी, जो कि इस काल के अंत में घटकर क्रमशः साढ़े तीन हाथ तथा 12 रह जाएगी। इस प्रकार जीव के अनुकूलन गुण को जैन दर्शन में उस परिवर्तन के रूप में स्वीकार किया गया है, जो कालक्रम के अनुसार होता रहता है।

## जीवन का प्रारंभ और विकास

ब्रह्मांड में जीवन के प्रारंभ एवं उसके क्रमिक विकास के संबंध में हमें वैज्ञानिक एवं जैन दार्शनिक मान्यताओं को समझना आवश्यक है।

### वैज्ञानिक मान्यता

पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति के संबंध में सबसे अधिक मान्यता रूस के जैव रसायन वैज्ञानिक ओपेरिन द्वारा प्रतिपादित परिकल्पना को मिली। उनके अनुसार लगभग पांच अरब वर्ष पहले पृथ्वी एक जलता हुआ आग का गोला थी। उसके वातावरण में जो कुछ भी उपलब्ध था, वह मात्र तत्त्वों (एलीमेंट्स) के रूप में ही था। पृथ्वी के पर्याप्त शीतल हो जाने पर कुछ योगिकों का निर्माण हुआ, जिनमें कुछ सरल 'प्रोटीन' भी थे जो जल में घुल सकते थे। फिर क्रमशः रासायनिक क्रियाओं द्वारा जटिल 'प्रोटींस' का निर्माण हुआ जो कि 'कार्बोहाइड्रेट्स' को उन जीवों के समतुल्य माना जा सकता है, जो कुछ वायरसों में पाए जाते हैं। ये 'कार्बोहाइड्रेट्स' स्व-जनन कर सकते थे। इनमें विकृति (म्युटेशन) द्वारा फिर कुछ परिवर्तन हुआ और मुक्त क्रोमोसोम्स का निर्माण हुआ जो कि 'बैक्टेरिया' में भी पाए जाते हैं। क्रोमोसोम्स के साथ ही जटिल संरचना द्वारा प्राथमिक सैल-न्यूक्लियस का निर्माण हुआ। इन प्राथमिक कोशिकाओं में ही सर्वप्रथम जीव के लक्षण विद्यमान हुए। इस सब प्रक्रिया में लगभग एक अरब वर्ष का समय लगा। इस प्रकार वैज्ञानिक ओपेरिन की मान्यता के अनुसार पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व लगभग चार अरब वर्ष पूर्व आया।

ओपेरिन की इस परिकल्पना को सिद्ध करने के कई प्रयास हुए हैं। स्टैनले मिलर और यूरी ने तथा कैल्विन और फौक्स ने अलग-अलग प्रयोगों द्वारा ओपेरिन के रासायनिक उद्‌विकास के सिद्धांत को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। वे अपने प्रयोगों में उच्च ताप एवं उच्च विभव 'वोल्टेज' पर कोशिका के संरचनात्मक घटकों का निर्माण प्रयोगशाला में कर सके। उससे ओपेरिन की मान्यता को बल मिला। डॉ. हरगोविंद खुराना ने प्रयोगशाला में 'डी.एन.ए.' के एक हिस्से का निर्माण कर दिखाया जिसमें 77 'न्यूक्लियोटीज' थे। इस प्रकार 'डी.एन.ए.' को भी प्रयोगशाला में बना पाना संभव हुआ। इन प्रयोगों से प्रयोगशाला में जीवन की उत्पत्ति की संभावना को भी बल मिला।

### प्राकृतिक चयन के द्वारा जीवन का विकास

विज्ञान के अनुसार डार्विन के प्राकृतिक चयन के सिद्धांत के अनुसार जीवन का विकास निम्नानुसार होता है[2]—(क) जीवों में प्रजनन की प्रचुर क्षमता होती है तथा प्रत्येक जीव अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है। (ख) जो जीव प्रकृति की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को झेल लेते हैं, वे ही जीवित रह सकते हैं। (ग) अनुकूल गुणों वाले जीव की प्रजाति विकसित होकर धीरे-धीरे नई प्रजाति को उत्पन्न करती है। (घ) एक-कोशीय तुच्छ जीवों के करोड़ों वर्षों के विकास से ही मनुष्य की उत्कृष्ट जाति का उद्‌गम हुआ।

## जैन दर्शन की मान्यता

जैन दर्शन में जीवों का जन्म तीन प्रकार से बताया गया है[3-4]—

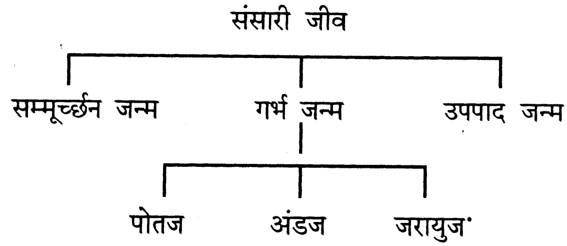


## सम्मूर्च्छन जन्म

इधर-उधर के परमाणुओं के मिलने से तथा विभिन्न अनुकूल वातावरण से जो जन्म होता है, उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं। जैन दर्शन में एक इंद्रिय से लेकर चार इंद्रिय तक के सभी जीव तथा कुछ पंचेंद्रिय जीवों का जन्म सम्मूर्च्छन रीति से होना बताया गया है।[5] इनमें नर व मादा का स्पष्ट भेद नहीं होता है। इनमें मैथुन की इच्छा होना नपुंसक वेद मोहनीय कर्म का कार्य है।

(1) **एकेंद्रिय जीव** : इनके मात्र एक स्पर्श इंद्रिय होती है। जैसे—पृथ्वीकाय, अप्काय, तैजसकाय, वायुकाय एवं वनस्पतिकायिक जीव। वनस्पति के भेद—मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कंदबीज, स्कंधबीज, बीजरूह, सम्मूर्च्छन आदि सात भेद होते हैं। इन्हें स्थावर प्राणी कहा जाता है, जो कि एक स्थान पर स्थिर रहते हैं, चल-फिर नहीं सकते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, तैजसकाय, वायुकाय, प्रत्येक की सात लाख योनियां होती हैं। वनस्पति के, दस लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय; कुल चौबीस लाख जीवायोनियां होती हैं।

(2) **द्वींद्रिय जीव** : इनके स्पर्श एवं रसना—दो इंद्रियां होती हैं। जैसे—लट, केंचुआ, जोंक, शंख आदि। ये जीव दो लाख योनियों में जन्म लेते हैं।

(3) **त्रींद्रिय जीव** : इनके स्पर्श, रसना, घ्राण—तीन इंद्रियां होती हैं। जैसे—कनखजूरा, चींटी, बिच्छू, खटमल, जूं, घुण (घुन, सुरैरी), इंद्रगोप, गिंजाई आदि। किंतु, चींटी आदि के अंडे देखे जाते हैं। अतः इनका गर्भ जन्म होने की शंका जैनाचार्यों ने, स्वयं ने की है। परंतु, जैनाचार्यों ने ही उसका समाधान देते हुए स्पष्ट किया है कि अंडों की उत्पत्ति गर्भ में ही होती है, ऐसा नियत नहीं है। अर्थात् चींटी के अंडे होते हुए भी चींटी सम्मूर्च्छन जीव है।[6]

(4) **चतुरिंद्रिय जीव** : इनके स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु—चार इंद्रियां होती हैं। जैसे—भौंरा, बर्र, मक्खी, मच्छर, डांस, टिड्डी आदि। ये जीव दो लाख जीवयोनियों में जन्म लेते हैं।

(5) **पंचेंद्रिय जीव** : इनके स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—पांचों इंद्रियां होती हैं। जैसे—मछली, केंचुआ, मेंढक तथा लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य। ये जीव चार लाख योनियों में जन्म लेते हैं। असंज्ञी लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य का शरीर अंगुल के असंख्यात भाग मात्र रहता है और यह जन्म लेने के बाद शीघ्र नष्ट हो जाता है। इसकी उत्पत्ति मल, मूत्र, वीर्य, कफ, कान, नाक व दांत के मैल एवं अन्य अपवित्र स्थानों में तत्काल हो जाती है।

एक इंद्रिय से असंज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंच जीव त्रस प्राणी कहलाते हैं जो चल-फिर सकते हैं।

## गर्भ जन्म

गर्भ जन्म वाले प्राणी पंचेंद्रिय संज्ञी होते हैं। इस जन्म वाले जीवों को तीन भागों में बांटा गया है—(1) पोतज, (2) अंडज, (3) जरायुज।

(1) **पोतज** : जिनके शरीर के साथ गर्भ में थैली आदि का कोई आवरण नहीं रहता है तथा जो उत्पन्न होते ही चलने लगते हैं, पोतज प्राणी कहलाते हैं। जैसे—सिंह, व्याघ्र आदि।

(2) **अंडज** : अंडे से जिनका जन्म होता है, उन प्राणियों को अंडज कहते हैं। जैसे—पक्षी, कबूतर, चिड़ी, मोर, चील आदि।

(3) **जरायुज** : जिनके शरीर के साथ मांस की थैली का आवरण होता है, उन्हें जरायुज कहते हैं। जैसे—मनुष्य, गाय, भैंस आदि।

संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तक सम्मूर्च्छन तिर्यंच, जैसे—मछली, केंचुआ, मेंढक आदि जीवों के संयमासंयम धारण करने की योग्यता का उल्लेख जैनागम में मिलता है।[7] तिर्यंच पंचेंद्रिय के चार लाख योनियां होती हैं। मनुष्यों के चौदह लाख जीवायोनियां होती हैं।[8]

## उपपाद जन्म

वेद तथा नारकियों की उपपाद शय्याएं निश्चित हैं। उन पर आत्मा के प्रदेश जब पहुंचते हैं तब अंतर्मुहूर्त में

पूर्ण रचना अपने-आप हो जाती है। देव तथा नारकी के चार-चार लाख योनियां हैं।[9] अचित्त योनि देव तथा नारकी—दोनों के होती है। चारों प्रकार के सब देवों के रूप से सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, संवृत्त (ढकी हुई), विवृत्त (खुली हुई) आदि के भेद से सब योनियां होती हैं।

जैन धर्म के अनुसार सभी जीवों में एक समान शक्ति एवं गुणों वाली आत्मा रहती है, जिसके ऊपर कर्मों का आवरण चढ़ा रहता है। जो जीव परिस्थितियों के अनुसार जैसी प्रतिक्रिया करता है उसके उसी प्रकार के कर्मों का संचय होता है। तद्नुसार उसे वैसा शरीर/पर्याय मिलता है।[10] एकेंद्रिय जीव (एक-कोशीय) भी अपने पुरुषार्थ के द्वारा त्रस (जंतु जगत) गति पा सकता है। कीड़े, मकोड़े, जानवरों का शरीर भी प्राप्त कर सकता है तथा सत्प्रयत्नों से मनुष्य का दुर्लभ शरीर भी प्राप्त कर सकता है।

## जीव विकास और मस्तिष्क का संबंध

जैन दर्शन के अनुसार जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है, वह निम्नतम अवस्था से उच्चतम अवस्था तक विकास करना चाहता है। जीव की निम्नतम अवस्था निगोद है। उस अवस्था में जीव को एक स्पर्श इंद्रिय ही प्राप्त होती है। विकास क्रम में जीव द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय शरीर धारण करता है। फिर पंचेंद्रिय समनस्क मनुष्य योनि धारण करके सम्यक् पुरुषार्थ से मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक विकास करता हुआ जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है, जो कि जीव की उच्चतम अवस्था है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि निम्न स्तर का जीव उच्च स्तर की विकसित योनि धारण नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें उस योनि के अनुरूप ज्ञान नहीं है। इसलिए जीव को योनि-दर-योनि ही ऊर्ध्वारोहण यात्रा करनी पड़ती है। एक वृक्ष का जीव सीधा मनुष्य योनि में प्रवेश नहीं कर सकता, उसमें मनुष्य के अनुरूप ज्ञान नहीं है।

जीव विकास और ऊर्ध्वारोहण जीव के कर्म-क्षय का परिणाम है। ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय से जीव में उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान प्रकट होता है। अर्थात् एकेंद्रिय में न्यूनतम तथा मनुष्य में अधिकतम ज्ञान होना चाहिए। भौतिक शरीर में मस्तिष्क ज्ञान का केंद्र है। अतः यह अपेक्षा की जाती है कि जीव की उत्तरोत्तर योनियों में मस्तिष्क अधिक उन्नत होना चाहिए। इस प्रकार विभिन्न प्राणियों में मस्तिष्क के अध्ययन से जीव विकास सिद्धांत प्रमाणित होता है।[11]

## तुलनात्मक विवेचना एवं निष्कर्ष

एक-कोशीय प्राथमिक जीव से अनेक जीव-जंतुओं (प्रजातियों) के निर्माण से हमें इतना समझ लेना चाहिए कि कुछ प्राथमिक जीव (एक-कोशीय) आपस में संयोग ('फ्युशन') करके अपना अस्तित्व तो समाप्त करते रहे तथा नए वातावरण में नई योनि बनाते रहे, जिनमें नई प्रजाति के जीवों का जन्म होता रहा। वस्तुतः एक-इंद्रिय जीव से दो, तीन-इंद्रिय आदि पैदा नहीं हुए, बल्कि कुछ एकेंद्रिय जीव अपना अस्तित्व समाप्त करके नए वातावरण में दो-इंद्रिय आदि जीवों के जन्म लेने योग्य नई योनि का निर्माण करते रहे।

विज्ञान ने कीट-पतंगों की लगभग दस लाख प्रजातियों को खोज निकाला है। जैन दर्शन के अनुसार ये कीट-पतंगे दो-इंद्रिय, तीन-इंद्रिय या चार-इंद्रिय हैं, जिनकी सम्मिलित योनियां छः लाख हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इन प्रजातियों की संख्या लगभग 80-90 लाख हो सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि एक ही प्रकार की सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण आदि योनि से अनेक प्रजातियां उत्पन्न हो सकती हैं। जैन दर्शन के अनुसार उतनी ही प्रजातियां पैदा हो सकती हैं, जितनी योनियां तथा कुल-कोटि हैं और काल उनके अनुकूल है। उनसे हटकर किसी अन्य प्रजाति का जन्म संभव नहीं है। जैन दर्शनानुसार योनियों की संख्या 84 लाख है तथा इन योनियों से 199.5 लाख कोटि प्रजाति ही पैदा हो सकती हैं।

यह मान्यता भी है कि मनुष्य गति मिलने से पहले जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता है, अर्थात् जीव विभिन्न पर्यायों में जन्म लेता है। जीव विकास की वैज्ञानिक सोच के अनुसार जाति का विकास सृष्टि की लाखों प्रजातियों के क्रमिक विकास की चरम परिणति है। इसलिए मनुष्य अपनी भ्रूणावस्था में अपने पूर्वज प्रजाति समुदायों—मत्स्य वर्ग, उभयचरों, सरीसृपों, पक्षियों, स्तनधारियों के भ्रूण से समानता दर्शाता है।

आजकल कतिपय वैज्ञानिक जंतुओं को गुलाब की कलम जैसा उगाकर क्लोनिंग की क्रिया से उसे क्रांतिकारी बताने और बनाने में जुटे हुए हैं। परंतु, यह क्रिया तो

छोटे-छोटे जीवों, वनस्पतियों आदि में पहले से ही पाई जाती है। इस क्रिया को जैन धर्मग्रंथों में सम्मूर्च्छन जन्म के रूप में उल्लेखित भी किया गया है।

आधुनिक शरीर विज्ञान के अनुसार सभी जीवों में जीवन के मूलभूत कण **जेनेटिक कोड** एक समान होते हैं।[12] 'जेनेटिक कोड' के क्रम परिवर्तन से ही अमीबा से लेकर मनुष्य तक की अलग-अलग प्रकार की जीव-जातियां जन्म लेती हैं। इसी प्रकार जैन दर्शन की मान्यता है कि सभी जीवों में एक समान आत्मा है। एक-सी क्षमताएं हैं, परंतु उनके विभिन्न कर्म ही उसे विविध प्रकार के शरीर दिलाते हैं। जीवन की उत्पत्ति के संबंध में विज्ञान की मान्यता है कि जीवन के मूलभूत अणु 'डी.एन.ए.' की रचना बिना 'एन्जाइम' के संभव नहीं है तथा 'एन्जाइम' स्वयं 'डी.एन.ए.' के द्वारा ही बनता है[13], अर्थात् जीव की उत्पत्ति या निर्माण के संबंध में विज्ञान अनिश्चित है, जो कि जैन दर्शन के जीव का 'अनादि निधन' होने का सिद्धांत पुष्ट करता है।

एक बार गणधर गौतम ने भगवान से पूछा—**कम्मओणं भंते! नो अकम्मओ विभक्ति भावं परिणमई। कम्मओणं अओ णो अकम्म ओ विभतिभावं परिणमई**—भंते! विश्व में सर्वत्र तरतमता दिखाई देती है, किसी में ज्ञान कम है, किसी में अधिक—इसका कारण क्या?

भगवान बोले—'गौतम!' इस तरतमता का कारण है—**कर्म**।[14]

यदि आज के जीवविज्ञानी से पूछा जाए कि विश्व की विषमता-तरतमता का क्या कारण है? वह बताएगा, एकमात्र कारण है—'जीन'। जैसा 'जीन' होता है, क्रोमोसोम होता है—आदमी वैसा ही बन जाता है। उसका स्वभाव और व्यवहार वैसा ही हो जाता है। यह 'जीन' ही सभी संस्कार-सूत्रों तथा सारे भेदों-विभेदों का मूल कारण है। विज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि एक-एक जीन पर साठ-साठ हजार आदेश लिखे हुए होते हैं। कर्मशास्त्र की भाषा में कहा जाता है कि एक-एक कर्मस्कंध में अनंत आदेश लिखे होते हैं।[15] अभी तक विज्ञान केवल जीन तक ही पहुंच पाया है। जीन इस स्थूल शरीर का ही घटक है। किंतु, कर्म सूक्ष्म शरीर का घटक है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस शरीर है, विद्युत शरीर है—वह सूक्ष्म है। इससे सूक्ष्म है—कर्म-शरीर। यह सूक्ष्मतम है। इसके एक-एक स्कंध पर अनंत-अनंत लिपियां लिखी हुई हैं। हमारे पुरुषार्थ का, अच्छाइयों का, बुराइयों का, न्यूनताओं और विशेषताओं का सारा लेखा-जोखा और सारी प्रतिक्रियाएं कर्म-शरीर में अंकित हैं। वहां से जैसे स्पंदन आते हैं, आदमी वैसा ही व्यवहार करने लग जाता है। कर्म का सिद्धांत अति सूक्ष्म है। स्थूल बुद्धि से परे का सिद्धांत है। आज के 'जीन विज्ञान' ने कर्म सिद्धांत को समझने में सुविधा प्रदान की है। जीन व्यक्ति के आनुवंशिक गुणों के संवाहक हैं।[16] व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद दिखाई देता है, वह जीन के द्वारा किया हुआ भेद है। प्रत्येक विशिष्ट गुण के लिए विशिष्ट प्रकार का जीन होता है। यह आनुवंशिकी के नियम कर्मवाद का संवादी नियम है।[17]

व्यक्तिगत भेद का मूल कारण है—**कर्म**। सारे विभेद **कर्मकृत हैं—कम्मुणा उवाही जायइ**।[18] यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो आनुवंशिकता, जीन और रासायनिक परिवर्तन—ये तीनों सिद्धांत कर्म के ही सिद्धांत हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी लिखते हैं—'एक दिन यह तथ्य भी अनुसंधान में आ जाएगा कि जीन केवल माता-पिता के गुणों या संस्कारों का ही संवहन नहीं करते, किंतु यह हमारे किए हुए कर्मों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।[19] स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर की यात्रा अपने- आप में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यह स्थूल शरीर सूक्ष्म कोशिकाओं से निर्मित है। इस शरीर में एक सौ खरब कोशिकाएं हैं। इन कोशिकाओं को जैन दर्शन के प्रतिपादन के संदर्भ में समझें कि सूई की नोक टिके उतने-से स्थान में निगोद के अनंत जीव समा सकते हैं।[20] निगोद वनस्पति का एक विभाग है। यह सूक्ष्म, रहस्यपूर्ण बात है। पर, आज का विज्ञान भी अनेक सूक्ष्मताओं का प्रतिपादन करता है।

अतः उपरोक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि जैन दर्शन का जीव विकासवाद विज्ञानसम्मत है और विकास-क्रम भी तर्कसम्मत है। विज्ञान अभी तक मन, चेतना और आत्मा के रहस्य को नहीं समझ पाया है। अतः अब तक इस विषय पर विज्ञान की कोई निश्चित अवधारणा नहीं बन पाई है। ❖

## संदर्भ सूची

1. पन्नवणा, जैनागम, पृ. 3.14
2. Biology Class : XII, II 1995, N.C.E.R.T. New Delhi, Darwins idea of Natural Selection, P. 896-897

3-4. तत्त्वार्थराजवार्तिक, भट्टअकलंक, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, अध्याय-2, सूत्र 31
सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, अध्याय-2, सूत्र 31
5. गोम्मटसार जीव कांड, जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका, गाथा सं. 1861
6. धवला पुस्तक-1, पृ. 346
7. धवला पुस्तक-5, खंड-1, भाग-6, सूत्र-234
8. मूलाचार, आचार्य बट्टकरे, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, गाथा संख्या-226
9. तिलोयपण्णत्ति अध्याय-8, गाथा 700-701
10. समण सुत्तं, सूत्र 658 एवं 659, पृ. 209
11. जीव विकास और मस्तिष्क—डॉ. नारायणलाल कछारा
12. Cytology, Genetics and plant breeding molecular biology by P.K. Gupta; Published by Rastogi Publication, Merut, P. 69
13. Biology Class : XI, N.C.E.R.T., New Delhi, 1989, Page 40
14. भगवती सूत्र 12/5
15. भगवती सूत्र 12/5
16. मनोवैज्ञानिक और शिक्षा सन् 1960, पृ. 161
17. कर्मवाद, युवाचार्य महाप्रज्ञ (वर्तमान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) प्रकाशक-आदर्श साहित्य संघ, चूरू, पृ. 137
18. आचारांग 1.3.1
19. कर्मवाद, आचार्य महाप्रज्ञ, अतीत को पढ़ो भविष्य को देखो, पृ. 165
20. कर्मवाद, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 152 भगवती सूत्र ❖❖



घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

**जैन *भारती* एक संपूर्ण पत्रिका है।**
**वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए**
**जैन *भारती* पढ़ें—सबको पढ़ाएं।**

व्यवस्थापक
**· जैन *भारती***
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

# यदि पथ्यं किमौषधैन

मुनि अक्षयप्रकाश

किसी भी विषय को समझने के लिए तीन प्रश्नों को जानना और समझना बहुत जरूरी है। 1. क्या?, 2. क्यों? और 3. कैसे?

पहला प्रश्न है—खाद्य-संयम क्या है? अनेकांत-दृष्टि से खाद्य-संयम के अर्थ को समझने के लिए आहार और अनाहार के सह-अस्तित्व को समझना बहुत जरूरी है। कुछ करने के लिए जीवन जरूरी है और जीवन के लिए आहार जरूरी है। धार्मिक चिंतन में भी कहा गया कि बंधनमुक्ति के लिए रत्नत्रयी की आराधना आवश्यक है। रत्नत्रयी के लिए जीवन और जीवन के लिए आहार जरूरी है। लेकिन, आहार जितना महत्त्वपूर्ण है, अनाहार भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। अनाहार पर चिंतन किए बिना आहार के विषय का चिंतन अधूरा रहता है।

भगवान महावीर ने खाद्य-संयम के तीन प्रकार बताए—1. अनशन, 2. ऊनोदरी और 3. रस-परित्याग। आहार का परित्याग—अनशन, कम खाना—ऊनोदरी और रसों का वर्जन करना—रस-परित्याग है।

दूसरा प्रश्न है—खाद्य-संयम क्यों? खाद्य-संयम की चर्चा काल-निरपेक्ष है। महाभारतकाल में भी संयम की बात को समझाते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

**पंच वर्धन्ते कौन्तेय! सेव्यमानानि नित्यशः।**
**आलस्यं मैथुनं निद्रा, क्षुधा क्रोधश्च पंचमः।।**

पांच ऐसे तत्त्व हैं जिनका नित्य सेवन करने से उनमें वृद्धि होती है—1. आलस्य, 2. मैथुन, 3. निद्रा, 4. क्षुधा (भूख) और 5. क्रोध। आयुर्वेद में आरोग्य के तीन उपस्तंभ माने गए हैं—1. आहार 2. श्रम 3. ब्रह्मचर्य। साधक को अपनी साधना के विकास के लिए तीनों ही उपस्तंभों पर ध्यान देना आवश्यक होता है। स्पष्ट है कि आहार बहुत आवश्यक है, लेकिन साथ-साथ संयम भी बहुत आवश्यक है। व्यक्ति मात्र आहार पर ही ध्यान देता है, अन्य दो बिंदुओं को गौण कर देता है। जिसका परिणाम होता है कि यदि किसी व्यक्ति को एक-साथ बहुत-सारे काम दे दिए जाएं तो वह उन्हें सम्यक् रूप से नहीं कर सकता और तनाव भी पैदा हो सकता है। उसी व्यक्ति को यदि एक-एक कार्य करने को कहा जाए तो वह उन्हें सम्यक् रूप से पूर्ण कर सकता है। इसी प्रकार बहुत-सारी चीजें एक साथ आहार के रूप में ग्रहण की जाएं तो वे दुष्पाच्य होती हैं और यदि उन्हीं चीजों को संयमपूर्वक ग्रहण किया जाए तो वे सुपाच्य बन सकती हैं, जो शारीरिक के साथ-साथ मानसिक और

*व्यक्ति चिंतन, मनन, कल्पना आदि के द्वारा बुद्धि का उपयोग करना चाहता है, अपनी प्रतिभा को कुशाग्रता से काम लेना चाहता है। इन सब कार्यों के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है। आहार को पचाने के लिए भी ऊर्जा की जरूरत होती है। संयमित आहार से पाचन-संस्थान को ऊर्जा प्राप्त होती है। असंयमित आहार ग्रहण करने पर पाचन-संस्थान अतिरिक्त ऊर्जा का उपयोग करता है, जिससे मस्तिष्क को मिलने वाली ऊर्जा की मात्रा कम हो जाती है। इसी से व्यक्ति का मस्तिष्कीय विकास, चैतसिक विकास बाधित होता है। पाचन-संस्थान में ऊर्जा की खपत बढ़ेगी तो मस्तिष्कीय ऊर्जा का क्षीण होना निश्चित है।*

भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए भी उपयोगी है।

आंख से देखते हैं, यह आंख का आहार है। इसी प्रकार प्रत्येक इंद्रिय का अपना आहार है। चिंतन, मनन, विकल्प इत्यादि मन के आहार हैं, लेकिन इन सब आहारों का आधार-स्तंभ है—'शरीर का आहार'। शरीर के आहार का संयम अन्य आहारों को अपने-आप संयमित कर देता है।

विज्ञान कहता है कि जैसा आहार, वैसा रसायन और जैसा रसायन, वैसी मस्तिष्कीय क्रिया और जैसी मस्तिष्कीय क्रिया, वैसा हमारा आचार-व्यवहार, विचार और आदतें होती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति का आहार भीतर की क्रिया को भी प्रभावित करता है। जैसे, जिस व्यक्ति का पित्त कुपित होता है—उसे क्रोध, वासना आदि सताते रहते हैं और जिसका वात कुपित होता है—उसे निराशा, 'डिप्रेशन', मानसिक अवसाद आदि सताते हैं। यदि कफ कुपित होता है तो उसे लोभ, माया, राग आदि ज्यादा परेशान करते हैं।

हमारे भोजन का संबंध हमारी वृत्तियों से अनवरत जुड़ा रहता है। इस आधार पर हम भोजन को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। मन को दूषित करने वाला भोजन, उत्तेजना और वासना उभारने वाला भोजन, क्रोध और लालच बढ़ाने वाला तथा अप्रशस्त लेश्याओं को उभारने वाला आहार। ऐसा आहार राजसिक या तामसिक कहलाता है। ठीक इसके विपरीत शुक्ल लेश्या के भाव जगाने वाला, पद्मलेश्या को प्रकंपित करने वाला, नाभि के ऊपरी केंद्रों को जगाने वाला और सक्रिय करने वाला आहार सात्त्विक आहार कहलाता है।

आयुर्वेद के आचार्य वाग्भट्ट से पूछा गया—ऐसी कौन-सी औषधि है जो न जमीन से उत्पन्न हुई है और न आकाश से? वह कौन-सा पथ्य है जो रसविहीन है और सर्वशास्त्र-सम्मत है? वाग्भट्ट ने एक शब्द में उत्तर देते हुए कहा—'लंघनम्'—अर्थात् खाद्य-संयम या उपवास। आयुर्वेद के अनुसार सप्ताह में एक उपवास आवश्यक है। उपवास यदि प्रायोगिक रूप से किया जाए तो वह अधिक सार्थक होता है। अनाहार, अल्पाहार और आहार की मात्रा को कम करना—तीनों ही एक दृष्टि से उपवास हैं।

आयुर्वेद का एक बहुत ही अच्छा सूक्त है—**रसमूला हि व्याधयः**—अर्थात् रस रोगोत्पत्ति का मूल है। अधिक रससेवन रोगोत्पत्ति के साथ-साथ मानसिक और भावनात्मक व्याधि का भी एक कारण है। लेकिन, रसों का संपूर्ण परित्याग बौद्धिक क्षमता को, शारीरिक क्षमता को भी कमजोर करता है। मात्र रुक्ष भोजन क्रोध में बढ़ोतरी, स्वभाव में विकृति और विभिन्न व्याधियां पैदा करता है। इसलिए अनेकांत-दृष्टि से चिंतन करना चाहिए कि हमारा आहार कैसा हो। अतः स्निग्ध और रुक्ष भोजन का सामंजस्य बिठाना चाहिए। स्निग्ध भोजन करना चाहिए, लेकिन इतना नहीं कि वासना, चंचलता आदि परेशान करे और रुक्ष भोजन भी इतना नहीं कि जिससे क्रोध आदि भावों की अत्यधिक वृद्धि हो जाए।

हमारे शरीर में काम-केंद्र, आवेग-केंद्र, वासना-केंद्र और स्मृति-केंद्र काम करते हैं। आहार के माध्यम से ये सभी केंद्र सक्रिय हो जाते हैं। आहार संयम से इन सभी केंद्रों को अति सक्रिय या अति उत्तेजित होने से बचाया जा सकता है।

व्यक्ति चिंतन, मनन, कल्पना आदि के द्वारा बुद्धि का उपयोग करना चाहता है, अपनी प्रतिभा को कुशाग्रता से काम लेना चाहता है। इन सब कार्यों के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है। आहार को पचाने के लिए भी ऊर्जा की जरूरत होती है। संयमित आहार से पाचन-संस्थान को ऊर्जा प्राप्त होती है। असंयमित आहार ग्रहण करने पर पाचन-संस्थान अतिरिक्त ऊर्जा का उपयोग करता है, जिससे मस्तिष्क को मिलने वाली ऊर्जा की मात्रा कम हो जाती है। इसी से व्यक्ति का मस्तिष्कीय विकास, चैतसिक विकास बाधित होता है। पाचन-संस्थान में ऊर्जा की खपत बढ़ेगी तो मस्तिष्कीय ऊर्जा का क्षीण होना निश्चित है।

ठाणं सूत्र में रोगोत्पत्ति के नौ कारण बतलाए गए हैं—**णवहिं ठाणेहिं रोगप्पत्ती सिया, तं जहा अच्चासणयाए, अहितासणयाए, अतिणिद्दाए, अतिजागरितेणं, उच्चारणिरोहेणं, पासवणणिरोहेणं, अद्धाणगमणेणं, भोयणयडिकूलताए, इंदियत्थ विकोवणयाए।** (ठाणं 9/13)— 1. अतिभोजन 2. अहितकर भोजन, अध्यशन 3. अतिनिद्रा 4. अतिजागरण 5. उच्चार (मल) का निरोध 6. प्रश्रवण का निरोध 7. यात्रा 8. भोजन की प्रतिकूलता 9. काम-विकार। इनमें प्रथम तीन एवं अंतिम दो आहार के असंयम से संबंधित हैं। इसीलिए कहा गया है कि भोजन आरोग्य देता है तो रोग भी बढ़ाता है। मनुष्य आहार असंयम

के द्वारा स्वयं पर अत्याचार करता है और उसके परिणामों को भोगता है, लेकिन अपनी इस प्रवृत्ति को छोड़ नहीं सकता।

आज व्यक्ति चटपटा, नमक-मिर्च-मसाले वाला भोजन करता है। नमक अर्थात् सोडियम का अत्यधिक उपभोग करता है। सोडियम की वृद्धि होने से पोटेशियम की मात्रा कम होती है, जिससे जीवनीशक्ति भी कम होती जाती है। हमारे शरीर में 80 फीसद जलीय अंश है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार मन और चंद्रमा का आपसी संबंध है। चतुर्दशी, पूर्णिमा और चतुर्दशी, अमावस्या को चंद्रमा समुद्रीय जल को प्रभावित करता है और इसी तरह शरीर के भीतरी जलीय भाग को भी प्रभावित करता है। यह अभिमत भी है कि इन दिनों में व्यक्ति को खाद्य-संयम करना चाहिए, साथ ही साथ अधिक से अधिक स्वाध्याय में रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

कहा गया है कि—**यदि पथ्यं किमौषधेन? यदि अपथ्यं किमौषधेन?**—अर्थात् यदि पथ्य है, संयम है तो औषधि सेवन की क्या आवश्यकता है? कोई आवश्यकता नहीं। यदि अपथ्य है, तो औषधि सेवन से क्या होगा? कुछ नहीं हो सकेगा। किसी विद्वान आचार्य ने लिखा है—

**हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।**
**न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा।।**

जो हित, मित और अल्प मात्रा में भोजन करते हैं, उनकी चिकित्सा वैद्य नहीं करते, वे स्वयं ही अपने चिकित्सक हैं। तीन शब्द हैं—हित, मित और ऋत। 1. हितभोजी, अर्थात् स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन करना। 2. मितभोजी, अर्थात् थोड़ा खाना, अल्प मात्रा में ग्रहण करना। और, 3. ऋत भोजी, अर्थात् अपने श्रम का खाना, किसी का शोषण कर नहीं खाना।

तीसरा प्रश्न है—खाद्य-संयम कैसे किया जाए? भगवान महावीर ने खाद्य-संयम के तीन प्रकार बतलाए हैं। अनशन—**आहारपरिहारोऽनशनम्**—अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य—इन चार प्रकार के आहारों के परित्याग का नाम अनशन है। इसके दो भेद हैं— 1. इत्वरिक—उपवास से लेकर छह मास तक की तपस्या। 2. यावत्कथिक—आमरण तपस्या। इसके भी तीन भेद हैं—भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन। खाद्य संयम का दूसरा प्रकार है—**ऊनोदरी—अल्पत्वमूनोदरिका**—आहार, पानी, वस्त्र, पात्र एवं कषाय आदि की अल्पता को ऊनोदरी कहते हैं। नवकारसी, प्रहर आदि उपवास से पूर्व की जितनी तपस्याएं होती हैं, उन्हें ऊनोदरी कहते हैं। उत्तराध्ययन में ऊनोदरी के प्रकारों को बतलाते हुए कहा गया—

**ओमोयरियं पंचहा, समासेण वियाहियं।**
**दव्वओ खेत्त कालेणं, भावेणं पज्जवेहि य।।**

(उ. 30/14)

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की दृष्टि से अवमौदर्य (ऊनोदरिका) के पांच प्रकार हैं। द्रव्य ऊनोदरी को व्याख्यायित करते हुए कहा गया—

**जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे।**
**जहन्नेणेगसित्थाई, एवं दव्वेण ऊ भवे।।**

(उ. 30/15)

जिसका जितना आहार है उससे जो जघन्यतः एक सिक्थ (धान्य कण) और उत्कृष्टतः एक कवल कम खाता है, वह द्रव्य से अवमौदर्य तप होता है। औपपातिक में इसका विभाजन इस प्रकार है— 1. द्रव्यतः अवमौदर्य और 2. भावतः अवमौदर्य। द्रव्यतः अवमौदर्य के दो प्रकार हैं—1. उपकरण अवमौदर्य और 2. भक्त-पान अवमौदर्य। भक्त-पान अवमौदर्य के अनेक प्रकार हैं—1. आठ ग्रास खाने वाला अल्पाहारी होता है, 2. बारह ग्रास खाने वाला अपार्द्ध अवमौदर्य होता है, 3. सोलह ग्रास खाने वाला अर्द्ध अवमौदर्य होता है, 4. चौबीस ग्रास खाने वाला पौन अवमौदर्य होता है और 5. इकतीस ग्रास खाने वाला किंचित् अवमौदर्य होता है। यह कल्पना भोजन की पूर्ण मात्रा के आधार पर की गई है। पुरुष के आहार की पूर्ण मात्रा बत्तीस ग्रास और स्त्री के पूर्ण आहार की मात्रा अट्ठाईस ग्रास है। ग्रास का परिमाण मुर्गी के अंडे अथवा हजार चावल जितना बतलाया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जितनी भूख हो, उससे एक कवल कम खाना भी अवमौदर्य है। क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि को कम करना भावतः अवमौदर्य है। निद्रा-विजय, समाधि, स्वाध्याय, परम-संयम और इंद्रिय-विजय—ये अवमौदर्य के फल हैं।

आज के परिप्रेक्ष्य में द्रव्य-सीमा और मात्रा की सीमा पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। आयुर्वेद में कहा गया है कि शरीर में दो भाग भोजन, एक भाग पानी, एक भाग वायु का हो तो वह पूर्ण भोजन माना जाता है।

अर्थात् भूख से आधा खाना पूर्ण भोजन है। दो भाग से अधिक खाना असंयमित भोजन कहलाता है और दो भाग से कम खाना खाद्य-संयम कहलाता है। इस प्रकार आयुर्वेद में खाद्य-संयम के बारे में यह उल्लेखनीय बात कही गई है।

जहां व्यक्ति की आसक्ति जुड़ती है तो वह येन-केन-प्रकारेण उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मात्रा की अल्पता बहुत जरूरी है। जो चीज पसंद है, उसे असंयमित रूप से ग्रहण करने से रोगोत्पत्ति की संभावना रहती है। इसलिए आहार का संतुलन आवश्यक है। रस परित्याग—**विकृतेर्वर्जनं रसपरित्यागः**—विकृतियों का वर्जन करना रस-परित्याग है। आगम साहित्य में छः प्रकार की विकृतियों का उल्लेख है। 1. घी 2. दूध 3. दही. 4. शक्कर, 5. तेल 6. मिठाई। औपपातिक में इसका विस्तार मिलता है। वहां इसके निम्नलिखित प्रकार उपलब्ध हैं— 1. निर्विकृति—विकृति का त्याग। 2. प्रणीत रस-परित्याग—स्निग्ध व गरिष्ठ आहार का त्याग। 3. आचामाम्ल—अम्ल-रस मिश्रित अन्न का आहार। 4. आयाम-सिक्थ-भोजन—ओसामण से मिश्रित अन्न का आहार। 5. अरस आहार—हींग आदि से असंस्कृत आहार। 6. विरस आहार—पुराने धान्य का आहार। 7. अन्त्य आहार—वल्ल आदि तुच्छ धान्य का आहार। 8. प्रान्त्य आहार—ठंडा आहार। 9. रुक्ष आहार—रूखा आहार। जिन वस्तुओं से जीभ और मन विकृत होते हैं, स्वाद-लोलुप या विषय-लोलुप बनते हैं, उन्हें 'विकृति' कहा जाता है। मूलाराधना में रस-परित्याग के तीन फलित बतलाए गए हैं—

**संतोषो भावितः सम्यग्, ब्रह्मचर्यं प्रपालितम्।**
**दर्शितं स्वस्य वैराग्यं, कुर्वाणेन रसोज्झनम्।।**

(मूलाराधना 3/217, अमितगति)

जो रस-परित्याग करता है, उसे तीन बातें फलित होती हैं—(1) संतोष की भावना, (2) ब्रह्मचर्य की आराधना और (3) वैराग्य। स्वादिष्ट भोजन को भी विकृति कहा जाता है। इसलिए रस-परित्याग करने वाला शाक, व्यंजन, नमक आदि का भी वर्जन करता है। मूलाराधना के अनुसार दूध, दही, घृत, तेल और गुड़—इनमें से किसी एक का, अथवा इन सबका परित्याग करना 'रस-परित्याग' है तथा 'अवगाहिम विकृति'—मिठाई पुड़े, पत्र-शाक, दाल, नमक आदि का त्याग भी रस-परित्याग है।

इस प्रकार आहार और अनाहार की सापेक्षता के महत्त्व को समझते हुए उल्लेखित तरीकों से खाद्य-संयम कर सकते हैं। ❖

## कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

# जोजे स्कूल नहीं जाएगा

❀ सुरेखा पाणंदीकर

रविवार की एक सुबह जोजे हमेशा की तरह समुद्र-तट पर खजाने के लिए शंख-सीपियां खोजने आया था। लेकिन, तट पर स्कूली बच्चों का शोरगुल था। जोजे शंख-सीपियां भूल गया। वह स्कूली कपड़ों में सजे बच्चों को देखने लगा। उनके पास खाने के डिब्बे और पानी की रंग-बिरंगी बोतलें थीं।

कुछ बच्चे गा रहे थे, तो कुछ रबड़ की एक बड़ी गेंद से खेल रहे थे। तभी एकदम से एक लड़के का ध्यान गाने वाले बच्चों को देख रहे जोजे की तरफ गया जो सिर्फ लंगोटी पहने था। उसने अन्य लड़कों को आवाज दी।

'गोपू, उस 'नंगू' लड़के को देख। उसे शर्म भी नहीं आ रही है।'—सुभाष ने कहा। उसी ने जोजे को पहले देखा था।

—'नंगू-पंगू, शेम-शेम'—वे चिल्लाए और हंसने लगे।

जोजे का ध्यान उनकी तरफ गया। उसने उनकी ओर देखा तो बच्चों ने उसकी तरफ देखते हुए मुंह बनाए। जोजे को बुरा लगा। उसने मुंह फेरा और गाने वाले बच्चों को देखने लगा।

—'क्या समझता है अपने को?'—सुभाष बोला।

—'हमें कुछ समझता ही नहीं'—राजू चिल्लाया।

—'उसे सबक सिखाते हैं'—अशोक बोला।

—'हां-हां, उसे सबक सिखाना ही पड़ेगा'—सब कह उठे।

सुभाष ने जोजे को गेंद मारने के लिए गोपू को इशारा किया। जोजे को गेंद नहीं लगी, पर वह उसके पास जा गिरी। जोजे ने गेंद उठाई और उसे वापस करने लड़कों के पास गया। वे उस पर हंसे और चिल्लाए—'नंगू-पंगू, शेम-शेम।'

गोपू ने उससे गेंद छीनकर उसे धक्का दे दिया। जोजे लड़खड़ाया और गिर पड़ा। लड़के जोर से हंसे। जोजे बहुत दुखी हुआ। वह वहां से भागा और समुद्र तट पर कुछ दूर पड़ी नाव पर जा बैठा।

अचानक उसे लड़कों की आवाज सुनाई दी—'बचाओ-बचाओ!'—वह उनकी तरफ भागा। उसने देखा कि जिस लड़के ने उससे

*गोपू, जिसे पता लग गया था कि जोजे ने उसे बचाया है, किसी तरह खड़ा हुआ। उसे चक्कर आ रहे थे। फिर भी आहिस्ता-आहिस्ता वह जोजे के पास चलकर गया। उसके हाथ अपने हाथों में लेकर बोला—'जोजे, पता नहीं कैसे और किस मुंह से तुम्हारा धन्यवाद करूं। सचमुच, मैं तुम्हारा बहुत आभारी हूं। मुझे मेरी बदतमीजी के लिए माफ कर दो। हमारे स्कूल में आ जाओ जोजे।'*

गेंद छीनी थी, वह पैर के नीचे से रेत खिसकने की वजह से गहरे समुद्र की तरफ बहा जा रहा था। वह बह रहा था और बाकी लड़के मदद करने के बजाय डर से चिल्ला रहे थे और रो रहे थे—'गोपू डूब रहा है, गोपू डूब रहा है, दीदी, दीदी।'

—'वह जो बड़ी लहर आ रही है, वह उसे जरूर बहा ले जाएगी'—जोजे ने सोचा। उसे समुद्र से कभी डर नहीं लगा। उसने फौरन समुद्र में छलांग लगाई और गोपू को कसकर पकड़ लिया। उसे पकड़कर वह लहरों पर तैरता रहा। जब लहरें कुछ कम हुईं तो गोपू को किनारे की तरफ खींचने लगा। जोजे को लहरों की पूरी जानकारी थी। उछलती बड़ी लहरों से गोपू को बचाकर वह किनारे पर ले आया। उस समय तक शिक्षिका श्यामा दीदी और अन्य लोग वहां जमा हो गए थे। दीदी ने गोपू को संभाला। भीड़ से एक आदमी आगे आया। उसने गोपू को पेट के बल लिटाया और उसकी पीठ दबाई। गोपू को खांसी आई और उसके मुंह से ढेर सारा पानी निकला।

—'अब खतरा टल गया। इसे तौलिए से पोंछिए'—आदमी ने सुझाया। दीदी ने अन्य शिक्षकों को गोपू को तौलिए से पोंछने के लिए कहा।

—'भगवान की कृपा है!'—दीदी बोलीं और सब ने राहत की सांस ली। अब दीदी ने कहा—'सोचो, अगर आज इस बच्चे ने गोपू को न बचाया होता तो क्या होता?'

सबके रोंगटे खड़े हो गए। 'पर वह गया कहां?'—दीदी ने चारों तरफ देखते हुए पूछा।

तभी जाता हुआ जोजे दिखाई दे गया।

—'रुको, छोटे हीरो! जरा रुको'—दीदी ने पुकारा और उसके पीछे भागीं।

—*'यहां आओ बेटा! हमें धन्यवाद तो करने दो।'*

दीदी जोजे का हाथ पकड़कर उसे अन्य बच्चों के पास ले आईं। गोपू वहीं पर लेटा था। जोजे का हाथ अपने हाथों में लेकर वह बोलीं—'बहुत धन्यवाद, छोटू! सचमुच, तुम बहादुर लड़के हो। आज तुमने केवल गोपू को नहीं, बल्कि हम सबको दुखद घटना से बचाया है।' उन्होंने जोजे को गले से लगाया और पूछा—

—'तुम्हारा नाम क्या है?'

'जोजे'—धीमी आवाज में जोजे ने बताया।

—'जोजे, बहुत अच्छा नाम है। अच्छे और वीर बालक का अच्छा नाम।'

—'कहां रहते हो?'—दीदी ने जानना चाहा।

—'वहां चर्च के पास उन झुग्गियों में'—जोजे ने इशारे से दिखाया।

—'कौन-से स्कूल में पढ़ते हो जोजे?'—छोटी लड़की उषा ने पूछा।

—'नहीं, मैं किसी स्कूल में नहीं पढ़ता'—जोजे बोला।

—'क्यों नहीं? क्या स्कूल में पढ़ना अच्छा नहीं लगता?'—उषा ने फिर पूछा।

—'नहीं, स्कूल में पढ़ना अच्छा लगता है, पर मेरे माई (मां) और पाई (पिताजी) के पास मुझे सुमी और उसके भाई की तरह मडगांव के बड़े और सुंदर स्कूल में पढ़ाने के लिए पैसे नहीं हैं'—जोजे ने उदास स्वर में कहा।

'मडगांव जाने की क्या जरूरत है? यहां बाणावली में ही हमारा स्कूल है। ये सारे बच्चे इसी स्कूल में यहां ही पढ़ते हैं। मैं इन्हें पढ़ाती हूं। क्या तुम हमारे स्कूल में आना चाहोगे?'—श्यामा दीदी ने पूछा।

'सच! आप मुझे स्कूल में लेंगी?'—जोजे ने उत्साहित होकर पूछा।—'पर नहीं। मेरे पाई (पिताजी) नहीं मानेंगे।' जोजे फिर बोला—'मेरे पाई के पास फीस देने के लिए पैसे नहीं हैं। मेरे पास इन बच्चों जैसे अच्छे कपड़े भी नहीं हैं। न ही किताब है, न स्लेट।'—जोजे उदासी से बोला। वह बहुत निराश था।

—*'उसकी फिक्र मत करो। अगर तुम आना* चाहते हो तो मैं सारा इंतजाम कर दूंगी। तुम्हारे पाई से अनुमति भी ले लूंगी। चलो जोजे, तुम्हारे पाई के पास, ताकि उनकी मंजूरी ले लें। फिर तुम गोपू, जिसे तुमने बचाया और इन बच्चों के पास पढ़ सकोगे, खेल सकोगे।' उठते हुए श्यामा दीदी बोलीं।

—'नहीं नहीं, इन लड़कों के साथ नहीं। मैं न ही

इन लड़कों के साथ पढ़ूंगा, न खेलूंगा'—अपना हाथ दीदी के हाथ से छुड़ाने का प्रयास करते हुए जोजे बोला।

—'क्यों नहीं? क्या तुम्हें ये अच्छे नहीं लगते?'—दीदी ने पूछा।

—'नहीं। मुझे नहीं अच्छे लगते। इन्होंने मुझे चिढ़ाया। मुझे 'नंगू पंगू' कहा। मैं जब गेंद वापस करने आया तो मेरे हाथ से छीन ली। मुझे धक्का भी दिया और गालियां भी। नहीं, मैं नहीं पढ़ूंगा इनके साथ।'—कहते हुए जोजे का गला भर आया।

—'क्या यह सच है सुभाष?'—लड़कों की तरफ मुड़कर दीदी ने पूछा। लड़कों ने शर्म से सिर झुका लिए।

जब सुभाष चुप रहा तो दीदी ने ऊंची आवाज में कहा—'मैं तुमसे पूछ रही हूं, सुभाष। क्या यह सच है?' सुभाष ने हां में गरदन हिलाई।

—'कितने खराब हो तुम लोग। शर्म आनी चाहिए तुम्हें। कितना अच्छा और निडर बच्चा है जोजे। इसने तुम्हारे भाई गोपू की जान बचाई, हालांकि गोपू ने गेंद छीनकर इसे धक्का दिया था। तुमने इसे चिढ़ाया और इसके साथ बुरा सुलूक किया। चलो, माफी मांगो इससे और अपने स्कूल में आने के लिए कहो।'—दीदी ने सुभाष से कहा।

—'हां-हां, जैसा दीदी कहती हैं वैसा करो।'—बाकी बच्चे बोले।

—'आओ लड़कों, सभी माफी मांगो।' —अन्य अध्यापकों ने भी कहा। सुभाष, राजू, माधव, दीपक, अशोक जोजे के पास गए और बोले—'हमें माफ कर दो जोजे। हमारे स्कूल में पढ़ने आओ। हम अब कभी तुम्हें नहीं चिढ़ाएंगे। हम तुमसे खेलेंगे।'

—'आओ न जोजे हमारे स्कूल में।'—छोटी दीपा ने कहा।

—'जोजे, हमारे स्कूल में आओ। जोजे आओ, जोजे आओ।'—सब एक साथ बोलने लगे।

गोपू, जिसे पता लग गया था कि जोजे ने उसे बचाया है, किसी तरह खड़ा हुआ। उसे चक्कर आ रहे थे। फिर भी आहिस्ता-आहिस्ता वह जोजे के पास चलकर गया। उसके हाथ अपने हाथों में लेकर बोला—'जोजे, पता नहीं कैसे और किस मुंह से तुम्हारा धन्यवाद करूं। सचमुच, मैं तुम्हारा बहुत आभारी हूं। मुझे मेरी बदतमीजी के लिए माफ कर दो। हमारे स्कूल में आ जाओ जोजे।'

—'मैं तो बहुत चाहता हूं, पर पता नहीं मेरे माता-पिता मानेंगे कि नहीं।'

जोजे हिचकिचा रहा था, क्योंकि उसे पता था कि उसके माता-पिता के पास पैसे नहीं हैं। दूसरी बात, उसके आस-पड़ोस में कोई भी कभी स्कूल नहीं गया था। लड़के बचपन में खेलते थे और मछलियां अलग करने में मदद करते थे। जब नाव में जाने लायक हो जाते तो पिता के साथ समुद्र में मछली पकड़ने जाते थे। लड़कियां घर का काम-काज सीखतीं और मां के साथ मछली बेचने बाजार जातीं।—'ऐसे में कैसे स्कूल जा सकता हूं मैं?' जोजे सोच रहा था। पर जब दीदी ने कहा कि चलो, तुम्हारे पाई और माई के पास उनकी अनुमति लेने चलें, तब जोजे के पास कोई चारा ही नहीं रहा। वह उन्हें अपने माता-पिता के पास ले गया जो उस दिन पकड़कर लाई हुई मछलियों को अलग-अलग करने में लगे हुए थे। ❖

---

**उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातं ते दक्षतातिं कृणोमि।**
**आहिरोहेममृतं सुखं रथम् अथ जिर्विर्विदथमा वदासि।**

हे पुरुषार्थी मनुष्य! तू स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है, अधोगामी नहीं। अपने जीवन को सफल बनाने के लिए विधाता ने तुझे पूर्णतः समर्थ बनाया है। प्रभु द्वारा प्रदत्त अमृतमय रथ पर आनंदपूर्वक बैठकर अपनी यात्रा को निर्विघ्न पूरा करो। वृद्धावस्था में शरीर में शिथिलता अनुभव करते हो तो भी अपने वचनों से दूसरों का मार्गदर्शन करते हुए कल्याण-मार्ग पर आगे बढ़ो। —**अथर्ववेद 8.1.6**



तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

*With best compliments from :*

*Fashion Paris*™
Trousers & Shirts

*Fashion Adventure*™
Jeans & Casuals

**Kiran Chand Kundlia**
**Prakash Kundlia**

Mob : 98441 02993

# FASHION ADVENTURE

# 4/7, 2nd floor, 1st Cross
Annipura, Near K.H. Double Road
Sudhamanagar, Bangalore 560027

Tel : 91-80-22273327, Mob : 9341965313
Telefax : 91-80-22485022
e-mail : fashion adventure@vsnl.net108

प्रेषण दिनांक 1 दिसंबर, 07

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

जैन भारती, दिसंबर, 2007

Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence
No. Tech.(WR)47-2/05-06/11 Valid till 31-12-2008

*With best compliments from :*

# THE KALYANI TEA CO. LTD.

**MAKERS OF FINEST QUALITY OF
GREEN / ORTHODOX / CTC
TEAS**

***Head Office :***

**16, Bonfield Lane, KOLKATA 700001**

Phone & Fax : (033) 2242-6141

***Garden :***

**Kenduguri Tea Estate**

**P.O. Rajgarh, Dist. Dibrugarh, Assam**

Phone : (03754) 276646 Fax : (03754) 276627

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।